विवेक-ज्योति

स्वामी विवेकानन्द का १५० वाँ जन्मवर्ष

वर्ष ५१ अंक ४ अप्रैल २०१३

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अप्रैल २०१३

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ५१
अंक ४

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छतीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर - २३, ०००

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा।

(४) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

लेखकों से निवेदन

रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

पुरखों की थाती

क्षणं बालो भूत्वा क्षणमपि युवा कामरसिकः
क्षणं वित्तैर्हीनः क्षणमपि च सम्पूर्णविभवः ।
जराजीर्णैरङ्गैर्नट इव वलीमण्डिततनु-
र्नरः संसारान्ते विशति यमधानीयवनिकाम् ।।२६२।।

– रंगमंच पर अभिनेता के समान मनुष्य क्षण भर बचपन में गुजारने के बाद, क्षण भर युवक के रूप में कामरस का उपभोग करता है। कभी वह निर्धन रहता है, तो कभी वह पूर्ण समृद्धि का रसास्वादन करता है। उसके बाद बुढ़ापा आने पर उसका सारा शरीर झुर्रियों से भर जाता है और तब वह परदे के पीछे स्थित यमराज के लोक की ओर प्रस्थान करता है।

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्राणोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।
मत्तेभेन्द्रविभिन्न-कुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केशरी ।।२६३।।

– मतवाले हाथी के मस्तक को फाड़कर उसका मांस खाने का इच्छुक और स्वाभिमानियों में अग्रगण्य सिंह यदि भूखा हो, बुढ़ापे से दुर्बल हो गया हो, शरीर से शिथिल हो गया हो, दुर्दशा को प्राप्त होकर शक्तिहीन हुआ हो और प्राण निकल रहे हों, तो भी क्या सूखी घास खा सकता है? वैसे ही स्वाभिमानी व्यक्ति विपत्ति में पड़कर या दुर्दशा को प्राप्त होकर भी कभी क्षुद्र उपायों को नहीं अपनाता। (नीति-शतकम्)

खद्योतो द्योतते तावद्-यावन्नोदयते शशी ।
उदिते तु सहस्रांशौ न खद्योतो न चन्द्रमाः ।।२६४।।

– जुगनू तभी तक चमकता है, जब तक कि चन्द्रमा का उदय नहीं हो जाता और सूर्योदय हो जाने पर जुगनू तथा चन्द्रमा दोनों ही लुप्त हो जाते हैं; (अत: अपनी उपलब्धियों पर गर्व नहीं करना चाहिये।)

क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः ।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद् दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी।। ६५

– दूध ने पहले तो अपने से मिले हुए जल को (धवलता, मधुरता आदि) अपने सारे गुण दे दिए, फिर दूध को उबलता देखकर जल ने स्वयं को जला दिया, तब (उबलते हुए) दूध ने अपने मित्र जल की विपत्ति देखकर स्वयं को आग में डाल दिया; इसके बाद ऊपर से फिर जल मिला देने पर वह (दूध) शान्त हो गया, सज्जनों की मित्रता ऐसी ही (सुदृढ़ तथा सहानुभूतिपूर्ण) हुआ करती है। (नीति-शतकम्)

खलो सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनः बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ।।२६६।।

– दूसरों के सरसों के बराबर दोष को भी दुष्ट व्यक्ति देख लेता है, परन्तु स्वयं के बिल्व फल के समान बड़े-बड़े दोषों को देखकर भी अनदेखा कर देता है।

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।
दशाननोऽहरत् सीतां बन्धनं तु महोदधेः ।।२६७।।

– दुष्ट दुष्टता करता है और उसका फल अच्छे लोगों को भोगना पड़ता है। सीता का हरण तो किया रावण ने और बँधना पड़ा समुद्र को।

ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ।।२६८।।

– सब रसों में लवण-रस (नमक) उत्तम है, क्योंकि लवण-रहित व्यञ्जन खाने पर गोबर जैसा लगता है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामीजी का आह्वान

(केदार–कहरवा)

जागो जागो मेरे देश,
उपनिषदों का सारे जग को,
देना है अनुपम सन्देश ।।

पराधीनता की बेड़ी में,
पड़े रहे शत शत वर्षों से,
भूल गए पुरखों की थाती,
रहे अपरिचित उत्कर्षों से ।
सहने पड़े सतत तुमको नित,
पीड़ा दुख-अपमान अशेष ।। जागो.।।

हुआ प्रबल जड़वाद जगत् में,
हिंसा और स्वार्थ का जोर,
पर अब होगी धर्म-प्रतिष्ठा,
शान्ति सुखद होगी सब ओर ।
नारायण आए हैं जग में,
लेकर रामकृष्ण का वेश ।। जागो.।।

दीर्घ निशा दुर्दिन की बीती,
प्राची में रवि उदयमान है,
ऋषियों की मधुमय वाणी में,
जग का अनुपम श्रेष्ठ ज्ञान है ।
पहचानो अपनी थाती को,
रह न जाय तन्द्रा का लेश ।। जागो.।।

जाति-देश-मत-सम्प्रदाय के,
भेदभाव है मिथ्या सारे,
पूरी वसुधा ही कुटुम्ब है,
मानव-मात्र ईश के प्यारे ।
भ्रातृभाव फैलाओ जग में,
मिट जाएँ 'विदेह' भय-द्वेष ।। जागो.।।

पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचार

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

न्यूयार्क, ८ दिसम्बर १८९५ : मैं एक बार फिर अमेरिकी धरती पर हूँ और मैंने मकान नम्बर २२८ वेस्ट ३९ में आश्रय लिया है। मैं मंगलवार को यहीं से कार्य शुरू कर दूँगा। सोच रहा हूँ कि क्रिसमस के बाद डिट्रायट तथा शिकागो होते हुए एक यात्रा करूँगा।

मुझे सार्वजनिक भाषणों की जरा भी परवाह नहीं है; और मुझे नहीं लगता कि मैं यहाँ ऐसा कोई व्याख्यान दूँगा, जिसमें प्रवेश-शुल्क देना पड़े। यदि तुम्हारी श्रीमती फेल्प्स तथा हमारे अन्य मित्रों से भेंट हो और कुछ कक्षाएँ आयोजित कर सको (जो निश्चय ही मुफ्त होंगे), तो इससे मेरे कार्य में काफी मदद मिलेगी।[१२५]

न्यूयार्क, १० दिसम्बर १८९५ : इंग्लैंड में मुझे शानदार सफलता मिली है और मैं वहाँ एक ऐसी टोली छोड़ आया हूँ, जो अगली गर्मियों में मेरे आने तक कार्य करती रहेगी। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि मेरे कुछ निष्ठावान मित्र इंग्लैंड के चर्च के बड़े-बड़े अधिकारी हैं। ...

श्रीमती फेल्प्स को मेरा स्नेह देना और कृपया उससे मिलकर (डिट्राएट में) कक्षाओं का आयोजन करना। सबसे अच्छा तो यह होगा कि एक सार्वजनिक व्याख्यान का आयोजन किया जाय, जिसमें मैं अपने कार्य की सामान्य योजना प्रस्तुत करूँ। यूनीटेरियन चर्च उपलब्ध है; और यदि व्याख्यान नि:शुल्क हो, तो बड़ी भीड़ एकत्र होगी। उसमें जो स्वेच्छा-दान होगा, उससे सम्भवत: उसका खर्च पूरा हो जायगा। फिर उस व्याख्यान से हमें एक बड़ी कक्षा के लिये शिक्षार्थी मिल जायेंगे और तब हमारे कार्य को गति मिल जायगी। उसके बाद श्रीमती फेल्प्स, श्रीमती फंकी और तुम (क्रिस्टिन) उनके साथ मिलकर कार्य को जारी रखोगी।

यह योजना पूर्णत: व्यावहारिक है और यदि श्रीमती फेल्प्स तथा श्रीमती बागले की इच्छा हो, तो वे इसे जल्दी ही रूपायित कर सकेंगी।[१२६]

न्यूयार्क, १६ दिसम्बर १८९५ : यहाँ पर प्रति सप्ताह मेरी छह कक्षाएँ चलती हैं; इसके अतिरिक्त एक प्रश्नोत्तर-कक्षा भी चलती है। श्रोताओं की संख्या ७० से १२० तक होती है। इसके साथ ही प्रति रविवार मैं एक सार्वजनिक भाषण भी देता हूँ। गत माह जिस सभागृह में मेरे भाषण हुए थे, उसमें ६०० लोगों के बैठने की जगह थी। पर करीब ९०० लोग उपस्थित होते थे, ३०० लोग खड़े होकर भाषण सुनते थे और बाकी ३०० लोग स्थानाभाव के कारण लौट जाते थे। अत: इस सप्ताह मैंने एक बड़े सभागृह का प्रबन्ध किया है, जिसमें १२०० लोग बैठ सकेंगे।

इन व्याख्यानों में प्रवेश के लिए कोई शुल्क नहीं माँगा जाता; परन्तु सभास्थल पर जो स्वेच्छा-दान एकत्र होता है, उसी से मकान का किराया चुका दिया जाता है। इस हफ्ते अखबारों की दृष्टि मुझ पर पड़ी है एवं इस वर्ष मैंने न्यूयार्क में बहुत कुछ हलचल मचा रखी है। यदि मैं इस बार ग्रीष्म ऋतु में यहाँ रह सकता एवं तदर्थ कोई स्थायी केन्द्र बना सकता, तो यहाँ पर बड़ी मज़बूती के साथ कार्य चलता रहता। पर अगले मई में मेरा इंग्लैंड जाना निश्चित है, अत: इस कार्य को अधूरा छोड़कर ही मुझे जाना पड़ेगा।...

फिर मुझे ऐसा भय हो रहा है कि अविश्रान्त कार्य से मेरा स्वास्थ्य नष्ट होता जा रहा है। मुझे कुछ विश्राम की अवाश्यकता है। हम लोग इन पाश्चात्य रीतियों से अनभ्यस्त हैं – खासकर घड़ी की सुई के अनुसार चलने में। ... 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका यहाँ खूब चल रही है। मैंने भक्ति-विषयक लेख लिखना शुरू कर दिया है; ... यहाँ पर मेरे कुछ मित्र मेरे रविवार के भाषणों को प्रकाशित करा रहे हैं।...

अगले महीने मैं डिट्रॉएट जाऊँगा, तदनन्तर बोस्टन और हार्वर्ड विश्वविद्यालय जाने का विचार है। इसके बाद थोड़ा विश्राम करने की इच्छा है; इसके बाद इंग्लैंड आना है।[१२७]

न्यूयार्क, २३ दिसम्बर १८९५ : बाल-विवाह से मुझे अत्यन्त घृणा है। इसके लिए मैंने अनेक कष्ट भोगे हैं

और इस महापाप के लिए हमारे राष्ट्र को भी बहुत कुछ कष्ट उठाना पड़ रहा है। इसलिए इस प्रकार की पैशाचिक प्रथा को परोक्ष अथवा अपरोक्ष किसी भी प्रकार से सहायता पहुँचाना मेरी दृष्टि में नितान्त घृणास्पद कार्य है।... मेरे जैसे भावुक व्यक्ति अपने सगे-स्नेहियों द्वारा सदा ठगे जाते हैं। यह संसार बेरहम है। इसमें जब हम मोल लिये हुए दासों की तरह रह सकेंगे, तभी लोग हमारे प्रति सहानुभूति दिखायेंगे, अन्यथा नहीं। मेरे लिए यह दुनिया बहुत बड़ी है, उसमें मेरे लिए किसी भी कोने में थोड़ा सा स्थान अवश्य होगा। यदि भारत के लोग मुझे न चाहें, तो भारत के बाहर मुझे चाहनेवाले कुछ लोग अवश्य मिल जायँगे। इस राक्षसी बाल-विवाह-प्रथा के विरुद्ध मैं यथासाध्य लड़ता रहूँगा। ... जिस प्रथा के अनुसार अबोध बालिकाओं का पाणिग्रहण होता है, उसके साथ मैं किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने में असमर्थ हूँ। ईश्वर करे कि उन लोगों के साथ मुझे कभी भी सम्बन्धित न रहना पड़े। ... जो व्यक्ति किसी अबोध बालिका के लिए पति ढूँढता है, मैं उसकी हत्या तक कर सकता हूँ। बात यह है कि मैं अपने कार्य में सहायता करने के लिए ऐसे व्यक्ति चाहता हूँ, जो वीर, साहसी, उत्साही तथा तेजस्वी हों। अन्यथा मैं अकेला ही कार्य करूँगा। मुझे संसार में एक खास उद्देश्य पूरा कर जाना है। मैं अकेला ही उसे कार्य में परिणत करूँगा। किसी ने मेरी सहायता की या नहीं की, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है।... मेरे गुरुदेव ने जो कर्तव्य का बोझ मेरे कन्धों पर छोड़ा है, उसे सम्पादन करने का मैं भरसक प्रयत्न कर रहा हूँ, इसके लिए मैं अपने से संतुष्ट हूँ और चाहे मेरा प्रयास सम्यक् रूप से कार्य में परिणत हुआ हो या नहीं, मैंने प्रयास किया, इसी से मैं सन्तुष्ट हूँ।... मैं किसी भी देश के किसी मानव से किसी प्रकार की सहायता नहीं चाहता।[१२८]

मैं अमेरिका में इंटरव्यू लेनेवाले पत्रकारों का पूर्ण अभ्यस्त हो गया हूँ। भले ही मेरे देश में ऐसा रिवाज नहीं है, परन्तु यह कोई कारण नहीं है कि मैं जिस देश में जाऊँ, वहाँ सुलभ साधनों का उपयोग उन बातों को फैलाने के लिए न करूँ, जिनका मैं प्रचार करना चाहता हूँ! १८९३ में मैं शिकागो की विश्व-धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधि था। मैसूर के राजा और कुछ दूसरे मित्रों ने मुझे वहाँ भेजा था। मैं समझता हूँ कि मैं अमेरिका में कुछ सफलता प्राप्त करने की दावा कर सकता हूँ। शिकागो के अतिरिक्त मुझे अमेरिका के अन्य बड़े नगरों से भी बहुत से निमंत्रण मिले। मैं वहाँ बहुत दिनों तक ठहरा; पिछली गर्मियों में... इंग्लैंड जाने को छोड़ दें, तो मैं अमेरिका में लगभग तीन वर्ष रहा। मेरी राय में अमेरिका की सभ्यता एक महान् सभ्यता है। मैंने अमेरिकी मस्तिष्क को नये विचारों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील पाया है। वहाँ कोई बात इसलिए त्याज्य नहीं है कि वह नयी है। वह अपनी अच्छाई और बुराई के आधार पर जाँची जाती है और केवल इसी आधार पर स्वीकार अथवा अस्वीकार की जाती है। ...

शायद यह कहने से मेरी शिक्षाओं के विषय में अधिक सुनिश्चित धारणा हो सकती है कि वह धर्म के सब प्रकारों का सार है; उनके ऊपर से असार तत्त्व को हटाकर उस पर बल देना है, जो उनका वास्तविक आधार है।[१२९]

न्यूयार्क, २३ दिसम्बर १८९५ : यहाँ का काम बड़े शानदार ढंग से चल रहा है। जब से मैं आया हूँ प्रतिदिन दो कक्षाएँ ले रहा हूँ। कल मैं श्री लेगेट के साथ एक सप्ताह के लिए नगर से बाहर जा रहा हूँ। क्या आप श्रीमती एंटोनेट स्टर्लिंग से परिचित हैं? वे यहाँ की नामी गायिकाओं में एक हैं। वे इस कार्य में विशेष आकृष्ट हैं।

मैंने इस काम का लौकिक भाग एक समिति को सौंप दिया है और मैं इस झंझट से अब छूट गया हूँ। मुझमें लौकिक कार्य के लिए क्षमता नहीं है। उससे मैं बिलकुल टूट जाता हूँ। ...

मैंने अब योगसूत्रों को हाथ में लिया है। क्रम से एक-एक सूत्र लेकर उसके साथ साथ भाष्यकारों के मत की चर्चा कर रहा हूँ। यह सब लिख लिया जाता है और पूरा होने पर यह अंग्रेजी में पतंजलि की टीका-सहित सबसे पूर्ण अनुवाद होगा।[१३०]

न्यूयार्क, ६ जनवरी १८९६ : इंग्लैंड में सच्चे जिज्ञासुओं के बीच में था। अंग्रेज लोगों ने हृदय से मेरा स्वागत किया और अंग्रेज-जाति-सम्बन्धी अपने विचारों को मैंने बहुत नर्म कर दिया है। सर्वप्रथम मैंने यह पाया कि मिस्टर लैंड आदि जो लोग इंग्लैंड से मुझ पर चोट करने आये थे, उनका यहाँ कोई पता ही नहीं था। अंग्रेजों द्वारा उनके अस्तित्व की केवल उपेक्षा ही की जाती है। अंग्रेजी चर्च के व्यक्ति को छोड़कर कोई भी शिष्ट नहीं समझा जाता है; और इंग्लैंड के कुछ अति श्रेष्ठ लोग – जो अंग्रेजी चर्च से सम्बन्धित हैं – और कुछ ऊँचे ओहदे के लोग मेरे सच्चे मित्र हो गये हैं। अमेरिका में हुए अनुभवों की अपेक्षा यह बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का अनुभव है। है न!

यहाँ के पादरी-संघ-शासित गिरजे के सदस्यों, दूसरे धर्मान्ध व्यक्तियों तथा होटलों में हुए स्वागत आदि के अनुभव के बारे में जब मैंने कहा, तो अंग्रेज लोग काफी देर तक हँसते रहे। मैं भी शीघ्र ही दो देशों की संस्कृति और शिष्टाचार का भेद समझ गया और यह भी समझ पाया कि क्यों अमेरिकन बालिकाएँ झुण्ड-की-झुण्ड यूरोपियनों से शादी करने जाती हैं। वहाँ प्रत्येक व्यक्ति मेरे प्रति सहृदय था और स्त्री और पुरुष, दोनों वर्ग के मेरे मित्र हो गये हैं। कई सज्जन लोग उत्सुकतापूर्वक अगली वसन्त ऋतु में मेरे लौटने की प्रतीक्षा करेंगे।

जहाँ तक वहाँ के मेरे कार्य का सम्बन्ध है, वेदान्त-विषयक

विचार अब तक इंग्लैंड के उच्चे वर्गों में व्याप्त हो गये हैं। उच्च शिक्षा और ऊँची स्थिति के बहुत-से लोगों ने, जिनमें अनेक पादरी भी थे, मुझसे कहा कि इंग्लैंड में – ग्रीक द्वारा रोम की विजय का पुनरभिनय हुआ है। ...

सार्वजनिक भाषणों के अलावा हर सप्ताह मुझे आठ और व्याख्यान देने पड़ते थे, जिनमें इतनी भीड़ होती थी कि अधिकांश लोगों को, जिसमें उच्च श्रेणी की महिलाएँ भी होती थीं, फर्श पर बैठना पड़ता था और वे तनिक भी बुरा नहीं मानते थे। इंग्लैंड में मुझे दृढ़ चित्त वाले नर-नारी मिले, जो किसी कार्य को शुरू करते हैं, तो फिर अपनी विशिष्ट अंग्रेजी दृढ़ता, शक्ति एवं योग्यता के साथ आगे बढ़ते हैं। इस वर्ष न्यूयार्क में मेरा कार्य अत्युत्तम रूप से चल रहा है। श्री लेगेट न्यूयार्क के बड़े धनी आदमी हैं और मुझमें काफी रुचि रखते हैं। देश के अन्य किसी भाग के लोगों की अपेक्षा न्यूयार्क के लोगों में अधिक स्थिरता है। अत: मैंने यहीं अपना केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया है। इस देश के 'मेथाडिस्ट' और 'प्रेसबिटेरियन' जैसे अभिजात वर्ग के लोग मेरे उपदेशों को अद्भुत समझते हैं। इंग्लैंड में गिरजाघर के अभिजात वर्ग के लोगों के लिए यह एक सर्वश्रेष्ठ दर्शन है।

फिर अमेरिकी महिलाओं का वार्तालाप तथा गप-शप की विशेषताएँ इंग्लैंड में नहीं दिखतीं। अंग्रेज महिलाएँ मन्थर-मति होती हैं; पर जब वे किसी योजना या लक्ष्य को कार्यान्वित करती हैं, तो उसके पीछे उनका एक निश्चित संकल्प होता है। वे नियमित रूप से वहाँ मेरा कार्य कर रही हैं और प्रति सप्ताह विवरण भेजती हैं – जरा सोचो तो! यहाँ अगर एक सप्ताह के लिए मैं कहीं जाता हूँ, तो सब कुछ तितर-बितर हो जाता है।[१३१]

न्यूयार्क, १६ जनवरी १८९६ : यहाँ पर मैंने कक्षाएँ लेना तथा रविवार को भाषण देना शुरू कर दिया है। दोनों कार्यों से ही उत्साह बढ़ने लगा है। इन दोनों के लिए मैं धन नहीं लेता हूँ; सभागृह के किराये के लिए (सभाओं में) थोड़ा-बहुत चन्दा भर करता हूँ। गत रविवार के भाषण की बड़ी प्रशंसा हुई है, अखबारों में वह भाषण प्रकाशित हुआ है। ...

मेरे मित्रों द्वारा एक संकेत-लेखक (गुडविन को) नियुक्त करने के फलस्वरूप वे पाठ तथा व्याख्यान लिपिबद्ध हो रहे हैं। ...

ग्रामीण अंचल में मुझे कुछ जमीन मिलने की सम्भावना है, उसमें कई मकान तथा कुछ वृक्ष हैं और एक नदी भी है। वह ग्रीष्म ऋतु में ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान हो सकता है। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि मेरी अनुपस्थिति में उसकी देखरेख, रुपये-पैसों की लेनदेन, प्रकाशन तथा अन्यान्य कार्यों के लिए एक समिति का होना आवश्यक होगा।

मैंने स्वयं को रुपये-पैसे की झंझटों से सर्वथा मुक्त कर लिया है; किन्तु अर्थ के बिना कोई आन्दोलन भी नहीं चल सकता। अत: बाध्य होकर कार्य-संचालन की सारी व्यवस्था मुझे एक समिति को सौंपनी पड़ी है; मेरी अनुपस्थिति में वे लोग कार्यों का संचालन करते रहेंगे।[१३२]

न्यूयार्क, २५ जनवरी १८९६ : मुझे भय है कि इस वर्ष कार्यभार से मैं थका जा रहा हूँ। मुझे विश्राम की परम आवश्यकता है। ... इस महीने के रविवारवाले व्याख्यानों का कल अन्तिम दिवस है। आगामी मास के पहले रविवार को ब्रुकलिन में भाषण होगा। शेष तीन न्यूयार्क में, उसके बाद मैं इस वर्ष के न्यूयार्क के भाषणों को बन्द कर दूँगा। ...

मुझे किसी बात की कोई चिन्ता नहीं है। व्याख्यान देते-देते और कक्षाएँ लेते-लेते मैं अब थक भी गया हूँ। इंग्लैंड में कुछ महीने काम करने के बाद मैं भारत जाऊँगा और वहाँ कुछ वर्षों के लिए या सदा के लिए अपने आप को पूरी तरह से छिपा लूँगा।... आशा करता हूँ कि प्रभु मुझे इस प्रचार-कार्य से और सुकर्म के बन्धन को बढ़ाने से छुटकारा देंगे।

"आत्मा ही एक एवं अखण्ड सत्ता-स्वरूप और शेष सब असत् है" – यह ज्ञान होने पर कौन-सा व्यक्ति या कौन-सी कामना मानसिक उद्वेग का कारण हो सकती है? माया द्वारा कल्याण करने आदि के विचार मेरे मस्तिष्क में आये – अब वे मुझे छोड़ रहे हैं। मेरा यह विश्वास अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है कि कर्म का ध्येय केवल चित्त की शुद्धि है, जिससे ज्ञान प्राप्त करने का वह अधिकारी हो। यह संसार गुण और दोषसहित अनेक रूपों में चलता रहेगा। पुण्य और पाप केवल नये नाम और नये स्थान बना लेंगे। मेरी आत्मा निरवच्छिन्न और अनश्वर शान्ति और विश्राम के लिए लालायित है।

"अकेले रहो, अकेले रहो; जो अकेले रहता है, उसका किसी से विरोध नहीं होता – वह किसी की शान्ति भंग नहीं करता, न उसकी शान्ति कोई दूसरा भंग करता है।" हाय! मैं तरसता हूँ – अपने चिथड़ों के लिए, अपने मुण्डित मस्तक के लिए, वृक्ष के नीचे सोने के लिए, और भिक्षा के भोजन के लिये! भारत में अपने दोष होते हुए भी एकमात्र वही एक स्थान है, जहाँ आत्मा अपनी मुक्ति, अपने ईश्वर को पाती है। यह पश्चिमी चमक-दमक केवल मिथ्या है और आत्मा का बन्धन है। संसार की निस्सारता का मैंने अपने जीवन में पहले कभी ऐसी दृढ़ता से अनुभव नहीं किया था। प्रभु सब को बन्धन से मुक्त करें – माया से सब लोग निकल सकें – यही विवेकानन्द की नित्य प्रार्थना है।[१३३]

न्यूयार्क, ६ फरवरी १८९६ : मेरा स्वास्थ्य प्राय: टूट चुका है। न्यूयार्क आने के बाद से मैं एक रात भी गहरी नींद नहीं सो सका; और इस वर्ष लेखनी तथा वाणी से होने वाला अविराम कार्य प्रतीक्षा कर रहा है। लगता है कि वर्षों के एकत्र कार्य तथा चिन्ताएँ मुझ पर सवार हैं। फिर इंग्लैंड में भी एक बड़ा संघर्ष मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। समुद्र के तल

में जाकर मैं एक अच्छी और गहरी नींद लेना चाहता हूँ। ...

अब तक मैंने अपनी पूरी निष्ठा के साथ कार्य करने की चेष्टा की है – इनके फल प्रभु को प्राप्त हों। यदि वे कार्य अच्छे होंगे, तो अभी या कभी-न-कभी अंकुरित होंगे; और यदि बुरे होंगे, तो वे जितनी जल्दी नष्ट हों, उतना ही अच्छा। मैं अपने जीवन-कार्य से पूर्णत: सन्तुष्ट हूँ। एक संन्यासी को जितने कर्म सम्पन्न करने चाहिये, मैं उसकी अपेक्षा बहुत अधिक करता रहा हूँ। अब मैं समाज की दृष्टि से पूरी तौर से ओझल हो जाऊँगा। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि संसार के संसर्ग ने मुझे नीचे ला दिया है, अत: इससे अलग हो जाना ही अच्छा है। हृदय को पवित्र करने के सिवा कर्म का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है। मेरा हृदय खूब पवित्र है, अत: मैं दूसरों की भलाई में सिर क्यों खपाऊँ? "यदि तुम जानते हो कि एकमात्र आत्मा का ही अस्तित्व है, अन्य किसी भी वस्तु सत्य नहीं है, तो फिर किस इच्छा से और किसके हेतु तुम स्वयं को कष्ट देते हो?" यह संसार सहज तथा विशुद्ध रूप से एक स्वप्न है। तो फिर मैं एक स्वप्न को लेकर क्यों सिर खपाऊँ? एक योगी के लिये संसार की आबोहवा ही जहर है, परन्तु अब मैं जाग रहा हूँ। मेरा पुराना इस्पाती हृदय लौट रहा है – सम्बन्धियों, मित्रों तथा शिष्यों के प्रति सारा लगाव तेजी से लुप्त हो रहा है। वेद कहते हैं – "न धन से, न वंश-परम्परा से, बल्कि सर्वस्व को तृण के समान त्यागने से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है।" मैं भी अब बोलते-बोलते इतना थक गया हूँ कि वर्षों तक मौन धारण करके निर्जन में बैठे रहना चाहता हूँ। बाकी सब कुछ व्यर्थ है।[१३४]

न्यूयार्क, १७ फरवरी १८९६ : न्यूयार्क एक तरह से अमेरिकी सभ्यता का हृदय है और उसे जगाने में मुझे सफलता मिली है। परन्तु भीषण कठिनाइयों से लड़ना पड़ा। ... जो शक्ति मेरे पास थी, वह मैंने न्यूयार्क और इंग्लैंड पर प्राय: न्यौछावर कर दी। अब काम सुचारु रूप से चल रहा है।... परिश्रम करना है वत्स, कठिन परिश्रम! काम-कांचन के इस चक्कर में अपने आप को स्थिर रखना और अपने आदर्शों पर जमे रहना, जब तक कि आत्मज्ञान और पूर्ण त्याग के साँचे में शिष्य न ढल जाये, निश्चय ही कठिन काम है। धन्य हैं परमात्मा कि अब तक बड़ी सफलता हमें मिलती रही है। मैं मिशनरी आदि लोगों को दोष नहीं दे सकता कि वे मुझे समझने में असमर्थ हुए। उन्होंने शायद ही कभी ऐसा पुरुष देखा होगा, जो धन और स्त्रियों की ओर आकर्षित न हो। पहले तो वे विश्वास ही नहीं करते थे, और करते भी कैसे!... मेरे पास अब लोगों के झुण्ड-के-झुण्ड आ रहे हैं। अब सैकड़ों लोगों को विश्वास हो गया है कि ऐसे भी मनुष्य हो सकते हैं, जो अपनी शारीरिक वासनाओं को वशीभूत कर सकते हैं। इन आदर्शों के लिए अब सम्मान और प्रीति बढ़ रहे हैं। जो प्रतीक्षा करता है, उसे सब कुछ मिलता है।[१३५]

न्यूयार्क, २९ फरवरी १८९६ : एक पुस्तक 'कर्मयोग' प्रकाशित हो चुकी है, 'राजयोग' जो उससे काफी बड़ी है, प्रकाशन की राह में है; और 'ज्ञानयोग' बाद में प्रकाशित होगा। ये पुस्तकें काफी लोकप्रिय होंगी, क्योंकि बोलचाल की भाषा में हैं।... गुडविन नाम का एक अंग्रेज आशुलिपिक मेरे कार्यों से इतना जुड़ गया है कि मैंने उसे एक ब्रह्मचारी बना दिया है और वह मेरे साथ ही सर्वत्र जाता है।[१३६]

बोस्टन, २३ मार्च १८९६ : मेरे नये संन्यासियों में निश्चय ही एक स्त्री है। पहले ये मजदूरों की नेता थीं। ... शेष सब पुरुष हैं। मैं इंग्लैंड में कुछ थोड़े से और संन्यासी बनाकर भारत अपने साथ लाऊँगा। ...

मेरी सफलता का कारण मेरी लोकप्रिय शैली है – गुरु का विशेषत्व उसकी सरल भाषा में होता है। ...

मुझे प्रतीत होता है कि मैंने अत्यधिक काम किया है। इस दीर्घकाल तक लगातार काम से मेरी नसों की शक्ति नष्ट हो गयी। मैं तुमसे सहानुभूति नहीं चाहता; परन्तु मैं इसलिए यह लिखता हूँ कि तुम मुझसे अब कुछ अधिक आशा न रखो। जितने अच्छे ढंग से तुम कार्य कर सको उतना करो। अब मुझे बहुत कम आशा है कि मैं बड़े-बड़े काम कर सकूँगा। परन्तु मुझे हर्ष है कि मेरे व्याख्यानों को संकेत-लिपि में लिख रखने से बहुत-सा साहित्य उत्पन्न हुआ है। चार किताबें तैयार हैं। ... मुझे सन्तोष है कि मैंने भलाई करने का भरसक प्रयत्न किया है और जब मैं कार्यविरत हो एकान्त-सेवन हेतु गुफा में जाऊँगा, तब मेरा अन्त:करण मुझे दोष न देगा।[१३७]

भाषा का रहस्य है सरलता। भाषा सम्बन्धी मेरा आदर्श मेरे गुरुदेव की भाषा है, जो थी तो नितान्त बोल-चाल की भाषा, साथ ही महत्तम अभिव्यंजक भी। भाषा को अभिष्ट विचार को संप्रेषित करने में समर्थ होना चाहिए।[१३८]

सन्दर्भ-सूची – ❖ **(क्रमश:)** ❖

१२५. The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ७२; **१२६.** वही, खण्ड ९, पृ. ७३; **१२७.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३६७; **१२८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३७०; **१२९.** वही, खण्ड ४, पृ. २३१; **१३०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४०; **१३१.** वही, खण्ड ४, पृ. ३७३-७४; **१३२.** वही, खण्ड ४, पृ. ३७७; **१३३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३८०; **१३४.** The Complete Works of Swami Vivekananda, खण्ड ९, पृ. ८०-८१; **१३५.** विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ४, पृ. ३८६; **१३६.** वही, खण्ड ४, पृ. ३८७; **१३७.** वही, खण्ड ४, पृ. ३९१; **१३८.** वही, खण्ड १०, पृ. ४२

रामराज्य की भूमिका (६/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के प्रांगण में १९८८ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती के अवसर पर पण्डितजी ने जो प्रवचन दिये थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

कौशल्याजी ज्ञानमयी हैं। उनमें समत्व की वृत्ति है, अत: उनकी दृष्टि में भरत और राम में रंचमात्र भी भेद नहीं है। सुमित्राजी व्यवहार में भेद को स्वीकार करते हुए भी उस भेद को अभेद से जोड़े हुए हैं। परन्तु कैकेयीजी के सामने समस्या है। क्यों है? एक संस्कार उनको अपने पिता से ही वंशानुक्रम से मिला हुआ है, जिसे मिटाना बड़ा कठिन है। ऐसी कई बातें हैं, जिन्हें व्यक्ति भाषण में सुनता है, समझता भी है, पर व्यवहार में उसका पूर्व संस्कार प्रबल हो जाता है और वह करता अपने संस्कार से है। एक बुद्धि तो हमारी वह है, जो हम कहते और सुनते हैं और दूसरी ओर हमारे अन्त:करण में गहराई से डाले गये हमारे परिवार के, समाज के या पूर्व जन्मों के संस्कार हैं। इस भेदबुद्धि का बीज तो कैकेयीजी के हृदय में उनके पिता कैकयनरेश द्वारा विवाह से पूर्व ही डाल दिया गया था। दशरथजी के मन में सौन्दर्य के प्रति आकर्षण था, वे उस वृत्ति से मुक्त नहीं हो पाए थे। उन्होंने जब कैकेयी जी की प्रशंसा सुनी, तो कैकयनरेश के पास विवाह का प्रस्ताव भेजा। महाराज कैकयनरेश ने सुना, तो उन्होंने अपने संस्कार के अनुसार इस प्रस्ताव को लेन-देन से जोड़ दिया।

ज्ञान में न लेना है न देना, उपासना या भक्ति में देना-ही-देना है, पर क्रिया में तो लेनदेन ही आधार है। जब हम कोई क्रिया करते हैं, तो उसके पहले ही सोच लेते हैं कि इससे हमें क्या मिलेगा! यह क्रिया हम क्यों करें! कैकेयीजी के पिता की भी यही समस्या है। कौशल्याजी या सुमित्राजी के पिता ने जब दशरथजी को अपनी कन्या अर्पित की, तो उन्होंने धन्यता का अनुभव किया। पर कैकेयीजी के पिता इतने उदार नहीं हैं। वे स्पष्ट कह देते हैं कि यदि आपको मेरी कन्या से विवाह करना है, तो आपको वचन देना होगा कि मेरी पुत्री से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वही सिंहासन का अधिकारी होगा। तो क्रिया का मूल केन्द्र – मूल आधार शरीर है। जहाँ शरीर ही सत्य है, शरीर का सत्य ही सत्य है, शरीर को ही आधार मानकर बड़े और छोटे का निर्णय किया जाता है, चाहे वह जाति के आधार पर किया जाय या कुल के आधार पर किया जाय या शरीर के आधार पर किया जाय, परन्तु यह भेदभाव जो दिखाई देता है, वह शरीर को ही केन्द्र बनाकर किया जाता है। महाराज श्री दशरथ उतावले हो उठे और राजी हो गये।

अब कैकेयी का एक रूप वह है जो अयोध्या में दिखाई देता है। वहाँ वे बड़ी उदार दिखाई देती हैं। वह बाहर का रूप है। यह क्रिया का वह रूप है, जो दिखावे के रूप में हमारे जीवन में भी दिखाई देती है। क्रिया में उदारता तो हमें प्राय: दिखाई देती है, पर देखना होगा क्रिया के उदारता के पीछे कहीं अनुदारता की वृत्ति तो नहीं छिपी है? कैकयनरेश के अन्त:करण में जो अनुदारता की वृत्ति और संस्कार है, वह कैकेयीजी के अन्त:करण में गहराई से प्रविष्ट हो गया है। इसी से सारा अनर्थ हुआ। कैसे?

कैकयनरेश ने कैकेयी का विवाह दशरथजी से कर दिया, पर क्रिया का जो कर्ता है, उसको सदा आशंका बनी रहती है कि क्रिया का फल हमें मिलेगा भी या नहीं? उन्हें चिन्ता हो गई कि दशरथ ने कह तो दिया है, पर बाद में बदल गये तो? या अयोध्या में गुरु वशिष्ठ या किसी ने प्रश्न उठाया कि रघुवंश की परम्परा तो यही है कि ज्येष्ठ पुत्र को राज्य दिया जाता है, तब क्या होगा? उनको लगा कि मेरी पुत्री तो बड़ी भोली है, इसके साथ ऐसा कोई बुद्धिमान भेज देना चाहिए, जो हमारी पुत्री के स्वार्थ की रक्षा करें। उनको अपने नगर में मन्थरा ही सबसे बुद्धिमती लगी। उन्हें लगा कि मन्थरा से बढ़कर चतुर दूसरा कोई नहीं है। अधिक चतुर लोग मन्थरा-बुद्धि से ही काम करते हैं। इस प्रकार भेदबुद्धि मन्थरा के रूप में कैकेयी के पीछे लगी हुई है। जिस अयोध्या में अखण्ड ब्रह्म – ज्ञानघन श्रीराम का प्राकट्य हुआ है, वहाँ भी क्रिया के पीछे यह भेदबुद्धि पहुँची हुई है।

महाराज दशरथ बड़ी विचित्र मन:स्थिति में है। वे रामराज्य के लिये कृतसंकल्प हैं और अगली सुबह श्रीराम को सिंहासन पर बैठाने के लिए व्यग्र हैं। उनके सामने एक रात बची है। वह रात कहाँ बितायी जाय, यह बड़े महत्त्व का प्रश्न था। यह आज के दिन और कल के दिन के बीच में एक रात भी होती है। यह अन्धकार की सत्ता है। अन्धकार में ही सावधानी आवश्यक है। प्रकाश तो कल होगा न! आज का अँधेरा क्या करेगा? इस अन्धकार में उन्होंने निर्णय लिया कि आज की रात तो हम कैकेयी के महल में व्यतीत करेंगे। क्यों?

वही सुन्दरता के प्रति आकर्षण और आसक्ति। उन्होंने न ज्ञान का आश्रय लिया और न भक्ति का, उन्होंने क्रिया की सुन्दरता एवं आकर्षण के कारण कैकेयी के महल में प्रवेश किया।

मन्थरा हम सबके जीवन में, परिवार में, समाज में, राष्ट्र में और देश में भेदबुद्धि के रूप में विद्यमान है। वह इस बात का विश्वास दिलाने में सफल हो जाती है कि तुम अपने स्वार्थ की रक्षा करो, अन्यथा बड़ा अनर्थ हो जायेगा।

कानपुर में मेरे एक स्नेही पत्रकार थे। जब वे सेवानिवृत्त होने लगे, तो उनके सम्मान में उनके मित्रों ने एक सभा बुलाई। उन्होंने मुझे भी बुला लिया और विषय दिया – मानस की दृष्टि से पत्रकार की भूमिका। उस समय मैंने यही कहा था कि रामायण में पत्रकारिता के दो ही रूप हैं – एक मन्थरा और दूसरे हनुमानजी। आप हनुमानजी के समान पत्रकार बन सकते हैं और मन्थरा के समान भी। क्यों? समाचार-पत्रों का काम समाचार देना है, पर आप समाचार देते समय आपकी वृत्ति क्या है? क्यों दे रहे हैं? कई बार तो कहा जाता है कि वह बात सच थी, इसलिये हमने कही। प्रश्न यह नहीं है कि बात सच है या नहीं, पहला प्रश्न यह है कि उस सच का उद्देश्य क्या है? सत्य का उद्देश्य सत्य है या सत्य के नाम पर कुछ और है? आप देखेंगे कि मन्थरा कैकेयी से जो बातें कहती है, उसमें वह सत्य की दुहाई देती है। मन्थरा ने समाचार दिया – देखो, राम को राज्य मिलने वाला है, बिल्कुल सही समाचार है। मन्थरा ने कहा – तुमको यह समाचार नहीं दिया गया। यह भी सच है। प्रारम्भ में कैकेयी की जो ऊपर वाली उदारता थी, वह बहुत मुखर हो उठी। जब मन्थरा ने समाचार दिया कि कल राम को राज्य मिलने वाला है तो कैकेयी प्रसन्न होकर बोली – तेरे मन को जो चीज अच्छी लगे, वही माँग ले –

राम तिलकु जौं साँचेहुँ काली।
देउँ मागु मन भावत आली।। २/१५/४

फिर मन्थरा ने जब उल्टे ढंग से कुछ कहा, तो नाराज होकर बोलीं – तू घर में झगड़ा पैदा करना चाहती है। भेद उत्पन्न करना चाहती है? और इतने कठोर शब्दों में उसकी भर्त्सना की – यदि आगे दुबारा कभी तूने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया, तो मैं तेरी जीभ कटवा दूँगी –

पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी।
तब धरि जीभ कढ़ावउँ तोरी।। २/१४/८

परन्तु मन्थरा में असीम धैर्य था। ऐसा धैर्य, इतना फटकार सुनने के बाद भी, उसने मन में निर्णय कर लिया – अच्छा, आपने मेरी जीभ कटवा देने का निर्णय किया है? अब यह तो भविष्य ही बतायेगा कि आप मेरी जीभ कटवा देंगी कि मेरी जीभ से बोलेंगी। अभी आप जो कह रही हैं, कह लीजिए। और सचमुच चमत्कार ही हुआ कि मन्थरा की जीभ कटी तो नहीं, बल्कि मन्थरा की जीभ ही कैकेयी की जीभ बन गई, मन्थरा की भाषा कैकेयी की भाषा बन गई।

मन्थरा के उस सत्य का उद्देश्य सद्भाव नहीं, बल्कि विरोध उत्पन्न करना और जैसे किसी-किसी खम्भे पर पच्चीकारी होती है, वैसे ही सत्य में थोड़े-से झूठ को मिलाकर, सत्य एवं असत्य का मिला-जुला रूप उसने प्रस्तुत किया। रामराज्य की तैयारी सचमुच ही बड़ी शीघ्रता से एक दिन में ही की गई थी, तो यदि वह कह देती कि आज ही रामराज्य का निर्णय किया गया है। तो कैकेयीजी कह सकती थीं कि समाचार मेरे पास आ रहा होगा। पर तुरन्त उसने एक बात जोड़ दी। बोली – जानती हो, यह राज्य देने की तैयारी कितने दिनों से चल रही है? – कितने दिनों से? – पन्द्रह दिन हो गये –

भयउ पाखु दिन सजत समाजू।
तुम्ह पाई सुधि मोहि सन आजू।। २/१९/३

दशरथ तुमसे प्रेम का दिखावा करते हैं, पर समाचार तुमको मिला, तो मुझसे मिला। तुम जरा बुद्धि लगाओ कि पन्द्रह दिन तक इसे क्यों छिपाया गया? और तुम्हारे पास समाचार देने के लिए मैं क्यों कारण बनी? ऐसा बुद्धिमत्तापूर्ण तर्क किया कि कैकेयी को लगा कि यह तो बिलकुल ठीक कहती है। बड़ी प्रभावित हुईं। मन्थरा से कह दिया – अरी मन्थरा, तुम्हारे जैसा मेरा हितैषी तो कोई है ही नहीं। मैं तो दुख की नदी में बहने वाली थी, पर तुमने मुझे बचा लिया –

तोहि सम हित न मोर संसारा।
बहे जात कइ भइसि अधारा।। २/३/२३

क्या कहूँ मन्थरा, अब तक तो मैंने बड़ी भूल की, तुम्हें सर्वदा अपने पैरों में बैठाया, पर अब मैं ऐसी भूल नहीं करूँगी। अब से तो मैं तुम्हें आँखों की पुतली ही बना लूँगी –

करौं तोहि चख पूतरि आली।। २/२२/३

ठीक ही है, भेदबुद्धि को आँखों में बिठा लीजिए और भेददृष्टि से देखिये, तो भेद ही दिखाई देगा। मन्थरा अपनी बातें रखने की कला में बड़ी निपुण है। बल्कि कैकेयी को थोड़ा-सा उलाहना देते हुए कह दिया – देखिए, मैंने बात कह दी, तो आपको कड़ुवा लग गया। अब मैं समझ गई। मैं तो झूठ बोलना जानती नहीं और तुम्हें तो वही लोग अच्छे लगते हैं, जो तुम्हें खुश करने के लिए चिकनी चुपड़ी बोलते हैं –

कहहिं झूठि फुरि बात बनाई।
ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई।। २/१६/३

पर क्या करूँ? मैं तुम्हारा अनभल देख नहीं सकती –

अनभल देखि ने जाइ तुम्हारा।। २/१६/७

अद्भुत कला है मन्थरा की – सत्य के नाम पर सत्य का कैसा दुरुपयोग करती है? पत्रकारिता का एक रूप यह है और दूसरा रूप हैं हनुमानजी। प्रभु का सन्देश वे सीताजी के पास पहुँचाते हैं, सीताजी का सन्देश प्रभु के पास पहुँचाते हैं

और प्रभु का सन्देश रावण के पास पहुँचाते हैं। उनके इन सभी संवादों का उद्देश्य जोड़ना है, तोड़ना नहीं। उनके सन्देश का उद्देश्य सीताजी और श्रीराम को निकट लाना है। वे अपनी बातों को ऐसी पद्धति से रखते हैं कि दोनों ही एक दूसरे के प्रेम से प्रभावित हो जायँ। सीताजी जब पूछती हैं कि मुझे वे कैसे भूल गये? तो वे कह देते हैं – माँ, अपने मन में रंचमात्र भी दुःख का अनुभव न करें; आप प्रभु से जितना प्रेम करती हैं, प्रभु उससे दूना प्रेम आपसे करते हैं –

जनि जननी मानहु जियँ ऊना।
तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना।। ५/१४/१०

इस प्रकार से सीताजी को हनुमानजी से यह संवाद पाकर अपार सन्तोष हुआ, क्योंकि हर प्रेम करनेवाला यही चाहता है कि मैं जितना प्रेम करूँ, सामने वाला उससे अधिक प्रेम, दूना प्रेम मुझसे करे। प्रेम में यह चाह होती है। इसलिए उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ कि प्रभु मुझे दूना चाहते हैं। और जब वे सीताजी का सन्देश लेकर प्रभु के पास गये, तो उन्हें उलाहना दिया। प्रभु ने पूछा – क्या सीताजी विपत्ति में हैं? यदि हैं, तो बोलो न भाई ! हनुमानजी ने उलाहना देते हुए कहा – हे दीनदयाल, बिना कहे ही ठीक है, बोलने के लिए बाध्य मत कीजिए –

सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीनदयाला।। ५/३१/९

बड़ी मीठी धमकी है। भक्त ने बड़ी विचित्र भाषा का प्रयोग किया – हे दीनदयाल, जानते हैं कि यदि मैं सुनाने लगूँगा, तो इसका क्या प्रभाव होगा? जब लोग सुनेंगे कि ये अपनी प्रिया को ही इतनी विपत्ति में डाले हुए हैं, तो फिर कौन आपको दीनदयाल कहेगा? मैं नहीं चाहता कि आपके इस नाम की महिमा मिटे। महाराज ! उनका एक-एक क्षण कल्प के समान बीत रहा है। अत: जल्दी चलिये और अपनी भुजा के बल राक्षसों को जीतकर सीताजी को छुड़ा लाइये –

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति।५.३१

उन्होंने भगवान राम का सन्देश ले जाकर सीताजी के आँखों से आँसू पोंछ दिये और सीताजी के आँखों से आँसू लाकर भगवान की आँखों में पैठा दिया। सीताजी दुःख से व्याकुल थीं। हनुमानजी ने उन्हें भगवान का सन्देश सुनाकर आनन्द की सृष्टि की और उनकी व्यथा ऐसी पद्धति से उन्होंने प्रभु को सुनाई कि वे रोने लगे; और उनके मन में लंका जाकर सीताजी की रक्षा करने की व्याकुलता प्रबल हुई।

यह भेदबुद्धि-रूपी मन्थरा ही समाज की सारी समस्याओं के मूल में है। आप जरा गहराई से विचार करके देखिए – यह भेद चाहे देश के नाम पर हो, या राष्ट्र के नाम पर हो, या जाति के नाम पर हो, या परिवार के नाम पर हो और अथवा एक ही परिवार में मेरे-तेरे के नाम पर हो – सृष्टि के सारे संघर्षों का मूल कारण यह भेदबुद्धि ही है।

यह भेदबुद्धि-रूपी मन्थरा क्रियाशक्ति-रूपी कैकेयी को पूरी तौर से प्रभावित करने में समर्थ होती है। मन्थरा ने कैकेयी को प्रेरित किया – अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है, आप एक काम कीजिए – यहाँ मत बैठिए, कोप-भवन में चली जाइए। तो यह स्वाभाविक ही है कि जहाँ क्रियाशक्ति होगी, वहाँ लोभ होगा और जहाँ भेदबुद्धि होगी, वहाँ क्रोध अवश्य आयेगा –

क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अग्यान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव की ईस समान।। ७/१११

क्रोध द्वैतबुद्धि से ही आता है। मन्थरा ने द्वैतबुद्धि उत्पन्न करने के बाद कोप-भवन में जाने की प्रेरणा दे दी। कैकेयीजी जब कोपभवन में जाने लगीं, तो मन्थरा ने पूछा – क्या ये सब वस्त्र-आभूषण, रेशमी साड़ी आदि पहनकर जाइएगा? बोली – ऐसे नहीं, पर फटी-पुरानी मोटे कपड़े की साड़ी तो आपके पास है नहीं, तो अपनी साड़ी मुझे दीजिए और यह मेरी साड़ी पहनकर और आभूषण आदि सब उतारकर फेंककर जाइये –

भूमि सयन पटु मोट पुराना।
दिए डारि तन भूषन नाना।। २/२५/६

इस प्रकार कैकेयी की बुद्धि – भेदबुद्धि की प्रेरणा से प्रेरित और आक्रान्त हो गई है और वे कोपभवन में जाकर बैठ जाती हैं। महाराज दशरथ, बनाना तो रामराज्य चाहते हैं, पर आज की रात भी वे आसक्ति से मुक्त नहीं हैं। वे राजमहल में जाते हैं और दासियों से पूछते हैं – महारानी कैकेयी कहाँ हैं। समाचार मिला कि वे कोपभवन में बैठी हुई हैं। सुनकर राजा सहम गए। डर के मारे उनके पाँव आगे नहीं पड़ते –

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ।
भय बस अगहुड़ परइ न पाऊ।। २/२५/१

शायद लौट आते कि दाल में कुछ काला है। पर बड़ी विचित्र बात है ! डर कितना भी लगा हो, पर पैर उसी दिशा में गये। बड़ा विचित्र व्यंग्य है ! जिस मार्ग में भय लग रहा हो, व्यक्ति उधर जायेगा ही क्यों? पर आसक्ति का यही स्वरूप है कि जिधर जाने में भय लगता है, व्यक्ति उसी दिशा में बढ़ता है। रामायण में अनेक स्थानों पर दशरथजी की प्रशंसा की गई है। उनकी प्रशंसा में बहुत कुछ कहा गया है, पर यहाँ गोस्वामीजी ने पहली बार उनकी आलोचना की। बोले – स्वयं देवराज इन्द्र जिनकी भुजाओं के बल पर निर्भय रहते हैं और सारे राजा जिनका रुख देखते रहते हैं; जरा काम की महिमा तो देखो – वे ही आज स्त्री का क्रोध सुनकर सूख गए हैं –

सुरपति बसइ बाँह बल जाकें।
नरपति सकल रहहिं रुख ताकें।।
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई।
देखहु काम प्रताप बड़ाई।। २/२४/३

बड़ी विचित्र मन:स्थिति है – महाराज दशरथ जैसा महान् योद्धा आज काम के प्रभाव से काँपता हुआ जा रहा है। वे कोपभवन में जाते हैं और कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए बार-बार कह रहे हैं – हे सुमुखी, हे सुलोचनी, हे कोकिलवचनी, हे गजगामिनी, मुझे अपने क्रोध का कारण तो सुना –

बार बार कह राउ सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ गजगामिनि निज कोप कर।। २/२५

अब वे वह भाषा बोलने लगे, जो उनके योग्य नहीं थी – प्रिये, बोल, किस कंगाल को राजा कर दूँ, किस राजा को देश से निकाल दूँ? यदि कोई देवता भी तेरा शत्रु हो, तो मैं उसे मार सकता हूँ। तो फिर कीड़े-मकोड़ों जैसे मनुष्यों की तो बात ही क्या है ! हे सुन्दरी, तू तो जानती ही है कि मेरा मन तेरे मुखरूपी चन्द्रमा का चकोर है –

कहु केहि रंकहि करौं नरेसू ।
कहु केहि नृपहि निकासौं देसू ।।
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी ।
काह कीट बपुरे नर नारी ।।
जानसि मोर सुभाउ बरोरू ।
मनु तव आनन चंद चकोरू ।। २/२६/२-४

कैकेयीजी को महाराज दशरथ ने जो सूचना नहीं भिजवाई, उसके पीछे भावना दूसरी थी। उन्होंने जान-बूझकर चेष्टा की कि मैं स्वयं कैकेयीजी के पास जाकर उनको यह सूचना दूँ, किसी दूसरे से समाचार न पहुँचे, क्योंकि जब कोई अच्छा समाचार सुनाता है, तो उसे अच्छा पुरस्कार मिलता है।

वे कैकेयीजी के प्रति शृंगार-भाव से इतने आसक्त थे कि उन्होंने सोचा था कि मैं स्वयं यह समाचार देकर कहूँगा कि इसके बदले में तुम मुझे पुरस्कार दो। कैकेयी मेरी इस शब्द-रचना को सुनकर प्रसन्न हो जाएँगी। उन्होंने उनको प्रसन्न करने की चेष्टा की – कैकेयी, सुनो तो सही, मैं क्या समाचार लेकर आया हूँ? तुम्हारी जो इच्छा थी, वह पूरी होने जा रही है। आज अयोध्या के घर-घर में बाजे बज रहे हैं। तुम भी शृंगार करो। कल राम का राज्याभिषेक होने वाला है –

भामिनि भयउ तोर मनभावा ।
घर घर नगर अनंद बधावा ।।
रामहि देउँ कालि जुबराजू ।
सजहि सुलोचनि मंगल साजू ।। २/२७/२-३

पर कैकेयीजी और राम के प्रति उनकी धारणा बदल चुकी है। इसके बाद उन्होंने वही, मेरा और तेरा के दो वरदान माँगे – मेरा बेटा भरत है, उसे राज्य मिले और कौशल्या का बेटा पराया है, उसे वनवास मिले। हम चाहते हैं कि हमारे बेटे की उन्नति हो, पर साथ ही यह भी चाहते हैं कि दूसरों के पुत्र त्याग करें, कष्ट उठावें। वह व्यंग्य आता है कि दशरथजी बोले – कैकेयी, अयोध्या में प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि राम के समान साधु कोई नहीं है। तुम भी कहा करती थी न कि राम का चरित्र तो साधु चरित्र है। आज तुम्हें क्या हो गया? –

सबु कोउ कहइ रामु सुठि साधू ।।
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू ।
अब सुनि मोहि भयउ संदेहू ।। २/३२/६-७

कैकेयी ने बुद्धि की वही चातुरी दिखायी, जैसा हम लोग प्राय: किया करते हैं। बोलीं – महाराज, विचार तो मेरा जो पहले था, वही अब भी है। मैं तो राम को भी साधु समझती हूँ और आपको भी साधु ही समझती हूँ –

रामु साधु तुम्ह साधु सयाने ।। २/३३/७

– तो फिर यह अनर्थ क्यों कर रही हो? बोलीं – महाराज, जरा सोचिए, क्या मैंने यह कहा कि आप राम को जेल में डाल दीजिए। – नहीं। – क्या मैंने उसे प्राणदण्ड देने के लिये कहा? – नहीं। – "मैंने तो यही कहा न कि राम चौदह वर्ष तक वन में जाकर उदासी बनकर रहे। तो साधु को वन में जाकर रहना ही चाहिए, आप ही उसे सिंहासन पर बैठाकर उसका पतन करा रहे थे। मैंने तो उसकी साधुता को बचा लिया।" कितनी बढ़िया बात है कि निष्कामता और साधुता की – इसीलिए इसका उत्तर भरतजी ने दिया। उन्होंने जटाजूट धारण कर लिया और अयोध्या के पास ही कुटी बनाकर रहने लगे। किसी ने उनसे पूछा – आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? बोले – कैकेयीजी की यह धारणा थी कि भोग की अपेक्षा साधुता ही श्रेष्ठ है, तो अपने बेटे को भी साधु के रूप में ही देखकर प्रसन्न होंगी, तभी तो उनकी धारणा सत्य सिद्ध होगी। दूसरे का बेटा साधु बने, तो साधुता श्रेष्ठ है और अपने बेटे के लिए भोग श्रेष्ठ है – यह कैसी दोमुँही बात है? व्यक्ति के जीवन में समाज में यह दोहरा मापदण्ड है – दूसरों से त्याग की अपेक्षा है, परन्तु अपने लिए भोग चाहिए।

शरणानन्दजी एक प्रज्ञाचक्षु सन्त थे। उत्तर देने की कला में बड़े निपुण थे। कई विचित्र प्रश्न करनेवाले व्यक्ति आ जाते हैं। किसी ने पूछा, "महाराज, पहले इतने बड़े-बड़े महात्मा हुआ करते थे, अब क्यों नहीं होते?" अब ऐसे प्रश्न का क्या तुक है ! पर सन्त ने हँसकर कहा, "देखो भाई, बात यह है कि पहले जो महात्मा बनने आते थे, वे आप जैसे बड़े लोगों के घर से आते थे, तो बड़े महात्मा होते थे। पर आप लोगों ने अपने घरों से लड़कों को निकालना ही बन्द कर दिया, तो हम जैसे नालायक ही साधु बन जाते हैं।" यदि तुम बहुत बढ़िया साधु चाहते हो, तो अपने भी दो-एक बेटों को साधु बनने के लिए प्रेरित करो। साधु तो तुम्हें बहुत बढ़िया चाहिए, पर तुम्हारे अपने घर में नहीं, दूसरे के घर में होना चाहिए।

मन्थरा से प्रेरित कैकेयी के हृदय में यही दोहरा मापदण्ड है। बोलीं – "महाराज, मैंने तो आज धर्म के चारों चरण पूरे कर दिये।" – कैसे? – "सत्य, तप, दया और दान – ये धर्म के चार चरण माने जाते हैं। आप इस अवसर को मत छोड़िए। आपकी साधुता दिखाने का बड़ा सुन्दर अवसर है। साधु त्यागी होता है – राम राज्य छोड़ देंगे, तो वे साधु बन गये और आप राम जैसे पुत्र का त्याग कर देंगे, तो आप उनसे भी बड़े साधु हुए। आप सत्य के लिये राम का त्याग करेंगे, तो समाज में सत्य की कितनी महत्ता बढ़ेगी? लोग कहेंगे – सत्य कितनी बड़ी वस्तु है ! इसलिए आप सत्य की रक्षा के लिए राम को वन भेज दीजिए। धर्म का दूसरा चरण तप है। राम जब चौदह वर्ष वन में रहकर तप करेंगे, तो लोग कहेंगे कि तपस्या कितनी ऊँची वस्तु है। इससे धर्म का दूसरा चरण पूरा हो जायगा। धर्म का तीसरा चरण दया है, जिसकी पात्र आपकी प्रिया मैं हूँ। धर्म का चौथा चरण दान है, तो राज्य का दान भरत को दे दीजिए। सत्य भी, तप भी, दया भी और दान भी – धर्म के चारों चरण पूरे हो गये।"

परन्तु बँटवारा कितना बढ़िया है। सत्य एवं तप दूसरों के लिए और दया एवं दान अपने लिए। जब ऐसे बँटवारे की वृत्ति रहेगी, तो रामराज्य बनने से रहा। गोस्वामीजी ने नारी के इसी रूप की आलोचना की है। भक्ति में ममता है, पर उस ममता का समर्पण है, जैसा कि सुमित्रा अम्बा के जीवन में दिखाई देता है कि पुत्र की ममता को श्रीराम में अर्पित करके राम से नाता जोड़ लेने वाली; और दूसरी ममता यह जो माया की प्रतिमूर्ति मन्थरा द्वारा प्रेरित कैकेयीजी की ममता –

माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।
नारि बर्ग जानइ सब कोऊ ।। ७/११६/३

इस ममता से आक्रान्त बुद्धि के कारण महाराज दशरथ का संकल्प पूरा नहीं हुआ। उस प्रसंग में गोस्वामीजी ने नारी की निन्दा में एक वाक्य लिखा। पत्नी के प्रति व्यक्ति का महान् विश्वास होगा, महाराज दशरथ का कैकेयीजी के प्रति इतना विश्वास था, पर क्या कहें, किस अवसर पर क्या हो गया !

कवनें अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास।

यह नारीनिन्दा नहीं, आश्चर्य की पराकाष्ठा है – क्या इतनी उदात्त वृत्तिवाली कैकेयी इस तरह बदल सकती है ! ममता का यह रूप दिखाई देने पर गोस्वामीजी इसके लिए निन्दात्मक शब्द का प्रयोग करते हैं और साथ ही दार्शनिक दृष्टि से जोड़ देते हैं – महाराज दशरथ की वही स्थिति हुई, मानो योगी योगसिद्धि के समय अविद्या माया द्वारा ग्रस्त हो जाय –

जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास ।। २/२९

तात्पर्य यह कि जहाँ मनुष्य के अन्त:करण में भेदबुद्धि है, द्वैत है, जहाँ राम और भरत भी अलग प्रतीत हो रहे हैं, जीव और ब्रह्म में भी भेद उत्पन्न करने की चेष्टा की जा रही है, वहाँ रामराज्य की स्थापना नहीं हो सकती। महाराज दशरथ अपनी वासनात्मक वृत्ति के कारण अपनी इस द्वैतबुद्धि से निवृत्त नहीं हो पाते। तो रामराज्य की स्थापना के लिए द्वैत का व्यवहार होते हुए भी अद्वैत की बुद्धि होनी चाहिए और इसी का संकेत सुमित्रा अम्बा के चरित्र में प्रकट होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

धरती नन्दनवन हो जाये

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये।
युगों-युगों से मानव-मन का
अब साकार स्वपन हो जाये ।।

जड़ में भी अब कोपल फूटे,
जाल जटिल जड़ता का टूटे,
द्वेष-कपट का विषघट फूटे,
कोई नहीं किसी को लूटे;

छूटे मैल मलिन भावों का,
उज्ज्वल जन-जीवन हो जाये।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये ।।

उतरें धरती पर नभ-तारे,
सजे अल्पना सबके द्वारे,
सबको लगें सभी जन प्यारे,
कोई नहीं रहे मन मारे;

सच्ची समता-समरसता ही
सबका जीवन-धन हो जाये।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दनवन हो जाये ।।

ज्योति सुमति की सबमें जागे,
भेद-भाव का भय भी भागे,
धरती नहीं धैर्य को त्यागे,
हों न कहीं भी लोग अभागे;

सद्भावों के शुभ सुमनों से
सुरभित सबका मन हो जाये।
इतना प्यार जगे जन-जन में,
धरती नन्दवन हो जाये ।।

❑❑❑❑❑❑

दुराग्रह का रोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

दुराग्रह एक मानसिक रोग है। इसे दूसरे शब्दों में 'हठधर्मिता' कहा जा सकता है। इसका कारण होता है – अपने विश्वास को तर्क की कसौटी पर न कसना। दूसरे शब्दों में, दुराग्रह के पीछे मनुष्य का अन्धविश्वास होता है। मनुष्य में केवल विश्वास ही न हो, अपितु वह विश्वास युक्तिसंगत भी हो। यदि मनुष्य को सभी कुछ मानने और करने पर बाध्य किया जाय, तो उसे पागल हो जाना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में एक महिला का उदाहरण दिया है, जिसने उनके पास एक पुस्तक भेजी थी। उसमें लिखा था कि उसमें लिखी बातों पर उन्हें विश्वास करना चाहिए। पुस्तक में बतलाया गया था कि आत्मा नामक कोई चीज नहीं है, परन्तु स्वर्ग में देवी-देवता हैं और हममें से प्रत्येक के सिर में से ज्योति की एक किरण निकलकर स्वर्ग तक पहुँचती है। स्वामीजी कहते हैं कि उस महिला की धारणा थी कि उसे दिव्य प्रेरणा मिली है और वह चाहती थी कि मैं भी उस पर विश्वास करूँ; और चूँकि मैंने ऐसा करने से इन्कार कर दिया, तो उसने कहा - ''तुम निश्चय ही बड़े खराब आदमी हो, तुम्हारे लिए कोई आशा नहीं !'' यही दुराग्रह है।

दुराग्रह के पीछे मनुष्य का सहज औद्धत्य-भाव रहता है। छोटा बालक बड़ा दुराग्रही होता है, पर जैसे जैसे वह बड़ा होता है, उसका मानसिक विकास होता जाता है। वह किसी वस्तु या घटना को तब केवल अपने नजरिये से नहीं देखता, अपितु दूसरे के नजरिये का भी सम्मान करना सीखता है। अत: उसमें दुराग्रह की मात्रा कम होती जाती है। इसे सुविख्यात जीवशास्त्री जूलियन हक्सले 'मनो-सामाजिक विकास' (psycho-social growth) कहकर पुकारते हैं। वे तीन प्रकार के विकास की बात कहते हैं। पहला है – physical growth यानी भौतिक अर्थात् शारीरिक विकास। दूसरा है – intellectual growth अर्थात् बौद्धिक विकास और तीसरा है – psycho-social growth अर्थात् मनो-सामाजिक विकास। भौतिक या शारीरिक विकास की बात हम समझते हैं। एक शिशु जब पैदा होता है, तब उसकी ऊँचाई-लम्बाई शायद डेढ़ फुट हो, वजन शायद ७-८ पौंड हो, पर जब वही आगे चलकर २५ वर्ष का नौजवान बनता है, तब शायद उसकी ऊँचाई ६ फुट हो जाय और वजन २०० पौंड। यह भौतिक या शारीरिक विकास है। बौद्धिक विकास की बात भी समझ में आती है। गाँव के विद्यालय से शहर के महाविद्यालय में पढ़ने आया लड़का पहले दब्बूपने के कारण सहमा-सहमा रहता है, बोलने में भी झेंपता है; पर जब धीरे-धीरे शहर के वातावरण का अभ्यस्त हो जाता है, शहरी परिवेश उसमें आत्मविश्वास को जगाने लगता है, तो फिर वही लड़का छात्रसंघ के चुनावों में भी भाग लेता है, अपने विचारों को अभिव्यक्त करना सीख जाता है। यह बौद्धिक विकास की सूचना है।

अब विकास के तीसरे आयाम 'मनो-सामाजिक विकास' को समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे। एक छोटा-सा लड़का ७-८ वर्ष का अपने विद्यालय से लौटकर घर आया। वह घर में घुसते ही चिल्लाते हुए कहता है – 'माँ, खाना दो।' माँ यदि बीमार है, खाट से उठ नहीं पा रही है और कहती है – 'बेटा, खाना वहाँ रखा है, निकालकर खा ले। मुझे जोरों का बुखार है, उठा नहीं जा रहा है।' तो लड़का चीख-चीखकर कहता है – 'नहीं, उठो, तुम मुझे खाना दो।' और तब तक चिल्लाना बन्द नहीं करता, जब तक माँ उठकर उसे खाना नहीं देती। यह छोटा-सा बालक केवल अपने लिए ही जीता है, उसे दूसरों के दु:ख, दूसरों की पीड़ा की परवाह नहीं है।

वह दुराग्रही है। उसमें 'मनो-सामाजिक विकास' नहीं हुआ है। पर जब वही बालक बढ़कर किशोर हो जाता है, तब उसकी सहानुभूति की क्षमता बढ़ जाती है, दूसरों का दु:ख-दर्द उसे अपना मालूम पड़ने लगता है। जब वह विद्यालय से घर लौटता है और माँ को खाट में पड़े देखता है, तो पूछता है – 'माँ, तुम्हें क्या हुआ?' माँ के शरीर पर हाथ लगाकर देखता है कि उसे तेज बुखार है। माँ उठते हुए कहती है - 'चल, तुझे खाना दे दूँ।' पर वह रोक देता है, माँ को सुला देता है, कहता है - 'माँ, तुम मत उठो, क्या करना है सो बता दो, मैं सब कर लूँगा, तुम आराम करो।' वह माँ की सेवा करता है, डॉक्टर को बुला लाता है, माँ को दवा-पथ्य देता है। यह उस लड़के का मनो-सामाजिक विकास है।

दुराग्रही व्यक्ति मनो-सामाजिक विकास से वंचित होता है। वह शारीरिक विकास के कारण शिशु से प्रौढ़ तो हो जाता है, परन्तु मनो-सामाजिक विकास के अभाव में वह शिशु के समान ही दुराग्रही रह जाता है। आजकल के मनो-चिकित्सकों के अनुसार सौ में से नब्बे दुराग्रहियों का या तो यकृत खराब होता है, या वे मन्दाग्नि अथवा किसी अन्य रोग से पीड़ित रहते हैं। व्यक्ति का मनो-सामाजिक विकास ही दुराग्रह की दवा है। ❑❑❑

गोलाप-सुन्दरी देवी

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और उनके अनुरागी बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के उपाध्यक्ष हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी पहली मुलाकातों का वर्णन किया है। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१९१२ ईसवी के अन्तिम भाग की घटना है। श्रीमाँ सारदा देवी तब रामापुरा, वाराणसी में 'लक्ष्मी-निवास' में ठहरी हुई थीं। उनकी निर्दोष पवित्रता, सबको अपना लेनेवाली करुणा तथा पूर्ण नि:स्वार्थता ने उनके व्यक्तित्व को बालिका जैसी मृदुता और मधुरता, सूक्ष्म आकर्षण तथा शान्त महिमा से परिपूर्ण कर दिया था, पर इसके साथ ही उनमें एक छोटी बच्ची जैसी सरलता और निर्मलता भी थी। एक दिन कुछ महिलाएँ उनके दर्शन करने आयीं। उस समय श्रीमाँ के साथ गोलाप -सुन्दरी भी थीं। उनके भव्य व्यक्तित्व को देखकर आगन्तुक महिलाओं की प्रमुख ने उन्हीं को श्रीमाँ समझा और उन्हें प्रणाम करने आगे बढ़ीं। (चूँकि श्रीमाँ में किसी प्रकार का आडम्बर या प्रदर्शन का भाव नहीं था, अत: बहुधा लोग उन्हें सामान्य महिला समझने की भूल कर बैठते थे। श्रीरामकृष्ण ने एक बार विनोद में उनके बारे में कहा था, ''वह राख से ढकी हुई बिल्ली है।'' आगन्तुक महिला की भूल समझते हुए गोलाप-सुन्दरी ने श्रीमाँ की ओर इशारा किया। इस पर श्रीमाँ के पास जाकर वह साष्टांग प्रणाम करने ही वाली थी कि माँ ने विनोदपूर्वक कहा, ''नहीं, नहीं, वही श्रीमाँ है।'' अब तो उस महिला ने पूरी तरह से भ्रमित हो पूर्ववत् ही गोलाप-सुन्दरी के पास जाकर उन्हें प्रणाम करना चाहा। इस पर रुष्ट हो गोलाप-सुन्दरी ने अपने स्वाभाविक तीखे स्वर में उस महिला से कहा, ''क्या दैवी और मानवी चेहरे में भेद नहीं समझ सकती हो।''[१] ऐसी थीं गोलाप-माँ – आध्यात्मिक रूप से उन्नत, भव्य व्यक्तित्ववाली, तथापि नम्र और सरल, परन्तु साथ ही ऐसी स्पष्टवादिता से भी युक्त, जो बड़ी तीखी भी हो सकती थी।

भगिनी देवमाता ने एक जगह लिखा है, ''गोलाप-माँ ऊँचे कद की पुष्ट देहवाली, संरक्षणशील, निष्ठावान धार्मिक और किसी प्रकार का समझौता न करनेवाली महिला थीं। श्रीमाँ की देखभाल वे दादी-माँ जैसा करतीं और उन्हें आगन्तुकों की भीड़ से बचाते हुए उनको सुरक्षित रखतीं, यहाँ तक कि उनको उनकी जात-पाँत की ओर बढ़ती लापरवाही और विदेशी सन्तानों के साथ उनका अधिक निकटता का व्यवहार देखकर झिड़क भी देतीं।'[२] मजबूत शरीर तथा चौकन्नी आँखोंवाली गोलाप-माँ का व्यवहार यद्यपि कुछ भयोत्पादक, तथापि हृदयस्पर्शी होता।

१८६४ ई. में उत्तरी कलकत्ते के एक कट्टर धार्मिक परिवार में जन्मी गोलाप-सुन्दरी देवी का लालन-पालन कट्टर धार्मिक परम्परा में हुआ था, तथापि उन्होंने उदार विचारों को पसन्द करना भी सीख लिया था। उनका पारिवारिक नाम अन्नपूर्णा देवी[३] था, पर वे गोलाप के नाम से ही परिचित थीं। उनका वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं था। एक पुत्र और एक पुत्री होने के बाद युवावस्था में ही उनके पति का देहान्त हो गया था। दु:ख के प्याले को और भरने के लिए छोटा पुत्र भी इसके शीघ्र बाद काल-कवलित हो गया। उनकी इकलौती परम सुन्दरी पुत्री चण्डी का विवाह पाथुरियाघाटा, कलकत्ता के एक सम्भ्रान्त एवं कुलीन वंश के जमींदार सौरीन्द्र मोहन टैगोर से हुआ था, जिन्हें राजा की उपाधि मिली हुई थी। वे सुखपूर्वक कभी-कभी अपने दामाद के पास रहती थीं, जो उनका बहुत ख्याल रखते।[४] जब भी बेटी अपनी माँ के घर आती, तो उसके साथ वर्दीधारी सिपाही होते। यह देखकर माँ की छाती गर्व से फूल उठती। परन्तु तभी बेटी की भी मृत्यु हो गयी और गोलाप-सुन्दरी के दु:ख का पारावार न रहा। वस्तुत: अब उनका ऐसा कोई न रहा, जिसे वे अपना कह सकतीं। एक के बाद एक होनेवाली इन दु:खदायी शोकप्रद घटनाओं से उनका स्वयं पर से विश्वास डिग गया और जीवन अन्धकारमय भविष्य की कालिमा से आच्छन्न हो उठा।

पर इससे एक लाभ यह हुआ कि इन बिछोहों ने गोलाप को बाध्य किया कि वे अपने चित्त को अपने आन्तरिक जीवन की ओर उन्मुख करें। नितान्त असहायता की दशा में उन्होंने कुछ राहत पाने के लिए ईश्वर की ओर देखा और सच्चे हृदय से प्रार्थना की। ऐसा लगता है कि उनकी प्रार्थना व्यर्थ नहीं गयी, क्योंकि सांत्वना पाने की आशा करते हुए उनकी भेंट बागबाजार के बगल में रहनेवाली योगीन्द्र-मोहिनी से हो गयी, जो बलराम बोस की दूर की रिश्तेदार थीं। योगीन्द्र मोहिनी का सौभाग्य था कि १८८३ ई. में उनकी दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण से भेंट हो चुकी थी। उन्होंने गोलाप को दक्षिणेश्वर के ईश्वरोन्मत्त परमहंस श्रीरामकृष्ण के विषय में बताया और निश्चय किया कि वे गोलाप को श्रीरामकृष्ण से मिलाने ले जाएँगी, ताकि उनकी मानसिक अशान्ति मिट सके। इसी आशा के साथ १८८५ के प्रारम्भ में एक सुखद प्रात: वे दोनों दक्षिणेश्वर की ओर रवाना हुईं।

१. स्वामी गम्भीरानन्द : 'श्रीमाँ सारदादेवी', कलकत्ता, ५वाँ सं., पृ. ३२२; **२.** भगिनी देवमाता : 'डेज इन ऐन इंडियन मानेस्टरी' (१९२७), पृ. २७८

३. ब्रह्मचारी अक्षयचैतन्य : 'श्रीश्री सारदादेवी' (बँगला), कलकत्ता, प्रथम संस्करण, पृ. २५ (फुटनोट); **४.** अक्षय कुमार सेन : 'श्रीश्री रामकृष्ण-पुँथी' (बँगला), कलकत्ता, उद्बोधन, सप्तम संस्करण, पृ. ४११

श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वभाव के अनुसार नवागन्तुकों का स्वागत किया। यह जानकर गोलाप-सुन्दरी को बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि श्रीरामकृष्ण काली-मन्दिर के मार्ग में टहलते हुए मानो उन्हीं लोगों की प्रतीक्षा कर रहे थे। औपचारिक परिचय के बाद गोलाप ने अपने भीतर एकत्र हुए दु:ख को उनके सामने निवेदित कर दिया। अपनी बेटी चण्डी की याद करते हुए उनकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गयी। श्रीरामकृष्ण ने उनकी पीड़ा की गहराई को समझा। उनके हाव-भावों से गोलाप के लिए करुणा अभिव्यक्त होने लगी। पीड़ा की संवेदना श्रीरामकृष्ण के भीतर से एक अपूर्व रूप में फूट पड़ी। वे हँसने लगे और नृत्य करते हुए कहने लगे कि वह कितनी भाग्यवान है, जो एकमात्र भगवान के अतिरिक्त अब उसका ध्यान खींचनेवाला दूसरा कोई भी नहीं है, भगवान ही उसके एकमात्र उद्धारक हैं और इस प्रकार मौतों का यह दु:खदायी क्रम उसके लिए एक तरह से छिपा हुआ वरदान ही साबित हुआ है, जिसने उसके लिए आध्यात्मिक साधना का मार्ग खोल दिया है। जैसे सर्प का काटा मनुष्य मंत्र से पुन: होश में आ जाता है, वैसे ही श्रीरामकृष्ण के इस पावन सान्निध्य से दुखी ब्राह्मणी का हृदय पूरी तौर से आन्दोलित हो उठा। अब वे अपने दु:ख को झटक डालने में समर्थ हो गयीं। वे प्राय: मंत्रमुग्ध-सी श्रीरामकृष्ण के पीछे-पीछे उनके कमरे में पहुँचीं। वहाँ वे दिव्य भाव में आरूढ़ होकर गाने लगे – (भावार्थ) "मन, अपने आप में ही रहो। किसी दूसरे के घर मत जाना। जो कुछ चाहोगे, वह बैठे हुए ही पाओगे, जरा अपने अन्त:पुर में खोजो तो सही ! वह परम धन है, पारस मणि है, जो भी चाहोगे, वह तुम्हें दे सकेगा। चिन्तामणि की नाट्यशाला के द्वार पर न जाने कितने मणि-रत्न आदि पड़े हुए हैं !"[५]

गाने का मर्म श्रीरामकृष्ण की मधुरवाणी से जिस प्रकार प्रकट हुआ, वह ब्राह्मणी के अन्तस्तल में भीतर तक भिद गया। इससे उसके दु:ख के बादल छँट गये और भीतर का गहन अन्धकारमय भाग आलोकित हो उठा। गोलाप ने श्रीरामकृष्ण से प्रार्थना की कि वे उनकी माया के मोहपाश से रक्षा करें। साथ ही उन्होंने उनसे भगवान के प्रति सच्ची भक्ति की याचना की। श्रीरामकृष्ण इस पर प्रसन्न हुए। वे सहज ही ब्राह्मणी की आध्यात्मिक लगन और सम्भावनाओं को जान गये थे। अब श्रीरामकृष्ण के प्रेरक उपदेश – प्राय: अधमरी-सी ब्राह्मणी के भीतर की सुप्त शक्तियों को जगाने लगे और उनकी कृपा से ब्राह्मणी के हृदय-कक्ष के पट खुल गये और भक्ति का मलय-पवन[६] उसमें मुक्त भाव से आने लगा। नौबतखाने में सारदादेवी से उनका परिचय कराते हुए श्रीरामकृष्ण ने कहा, "इसको भरपेट खिलाना। उससे इसके दु:ख का शमन होगा।" उन्होंने श्रीमाँ से यह भी कहा, "इस ब्राह्मणी का ख्याल रखना। यह जीवन भर परछाई की भाँति तुम्हारे साथ रहेगी।" यह भविष्यवाणी बाद में अक्षरश: सत्य सिद्ध हुई थी।

परवर्ती काल में गोलाप ने श्रीरामकृष्ण के साथ अपनी पहली भेंट का वर्णन किया था। उन्होंने ज्योंही श्रीरामकृष्ण के समक्ष अपनी व्यथा जतायी, तो उन्होंने उसकी पीठ थपथपायी थी। इसी से मानो उनके सारे दु:ख दूर हो गये। इसका गोलाप पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने एक आत्मज्ञानी की तरह अपने दु:खों को हँसी में उड़ा दिया। उन्हें सहसा लगा कि मानव-जीवन – मंच पर किये जा रहे किसी नाटक जैसा है। फिर कौन किसकी माँ है और कौन किसकी पुत्री? अपने ऐसे कृत्रिम हानि के लिए वे क्यों रोयें? सार्थकता तो ईश्वर के लिए रोने में ही है।[७]

इस घटना के बाद कुछ दिनों तक वे शान्ति पाने की इच्छा से अपने बागबाजार के घर से बारम्बार दक्षिणेश्वर जाती हुई दिखीं। १३ जून १८८५, रविवार को वे श्रीरामकृष्ण के कमरे के उत्तर दिशावाले दरवाजे के बाहर खड़ी थीं। वहाँ से उन्होंने श्रीरामकृष्ण को राम मल्लिक के भतीजे की मृत्यु पर हुए उसके दु:ख का वर्णन करते हुए सुना। ठाकुर अपनी अनूठी शैली में कह रहे थे, "बात यह है कि ईश्वर ही सत्य हैं, बाकी सब कुछ अनित्य। जीव-जगत्, घर-द्वार, लड़के-बच्चे – यह सब जादूगर का इन्द्रजाल है।... परन्तु जादूगर ही सत्य है और सब अनित्य – अभी है, थोड़ी देर में गायब। ... ईश्वर ही सत्य हैं और सब अनित्य। पानी ही सत्य है, पानी के बुलबुले अभी हैं, अभी नहीं – बुलबुले पानी में ही मिल जाते हैं – जिस जल से उनकी उत्पत्ति होती है, अन्तत: उसी जल में वे लीन भी हो जाते हैं। ईश्वर महासमुद्र हैं, जीव बुलबुले; उसी में पैदा होते हैं, उसी में लीन हो जाते हैं। लड़के-बच्चे एक बड़े बुलबुले के साथ मिले हुए कई छोटे-छोटे बुलबुले हैं। ईश्वर ही सत्य हैं। उन पर कैसे भक्ति हो, उन्हें किस तरह प्राप्त किया जाय, अब यही चेष्टा करो। शोक करने से क्या होगा?"[८]

श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का गोलाप पर शान्तिदायक प्रभाव पड़ा था। वस्तुत: उनका समूचा व्यक्तित्व ही श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की जीवन्त सत्ता से रोमांचित हो उठा था। उन्होंने अपने को संयमित किया तथा घर को लौटने के लिए तत्पर हुईं। जून का महीना था, अपराह्न के प्राय: ३ बजे थे। श्रीरामकृष्ण ने स्नेह पूर्वक कहा, "तुम अभी जाना चाहती हो? अभी तेज गरमी है। अभी क्यों? बाद में भक्तों के साथ गाड़ी में चली जाना।" श्रीरामकृष्ण के ऐसे सहृदय व्यवहार ने उनका मर्म छू लिया।

गोलाप के भीतर की पारिवारिक जीवन के बन्धनों और कष्टों से दूर कहीं तीर्थ में जाने की इच्छा अब दक्षिणेश्वर में तृप्त हो रही थी। शीघ्र ही वे श्रीमाँ की अन्तरंग संगिनी हो गयीं और

५. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, सं. १९९९, पृ. २२०, भाग २, पृ. ७३९; ६. 'पुँथी' (बँगला), पृ. ४१२-१३

७. 'श्रीरामकृष्ण स्मृति' (बँगला), लक्ष्मीमणि देवी तथा योगीन्द्र-मोहिनी विश्वास, (कलकत्ता : उद्‌बोधन, तृतीय सं.), पृ. ३२; ८. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, सं. १९९९, भाग २, पृ. ९४३

यदा-कदा वे वहीं नौबत में उनके पास ठहर जातीं। श्रीमाँ को अपनी गृहस्थी अति अल्प खर्च में कुशलतापूर्वक चलाते देख वे सोचतीं कि किस प्रकार वे स्वयं इन्हीं कार्यों के लिए कितना अधिक खर्च कर डालती थीं और उन्हें लगता कि दूसरा कोई उपाय नहीं है, जबकि वे सारे कार्य थोड़े में ही बड़ी सहजता से किये जा सकते थे। गोलाप ने अपनी घर-गृहस्थी के छोटे-छोटे कामों में भी श्रीमाँ के अनाडम्बर जीवन से प्रेरणा प्राप्त की।

अपने दु:खों से छुटकारा पाने की नकारात्मक प्रवृत्ति की जगह अब उनमें श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के आकर्षण तथा लगाव की सकारात्मक प्रवृत्ति दृढ़ होती जा रही थी। उनके बारम्बार आग्रह पर श्रीरामकृष्ण २८ जुलाई १८८५ को उसके बागबाजार के लेबूबागान में स्थित पुराने, जर्जरित ईंटों के मकान में पधारे थे। उनकी एक विधवा बहन तथा भाई लोग भी अपने परिवार के साथ उसी मकान में रहते थे। गोलाप पूरे दिन श्रीरामकृष्ण के स्वागत की तैयारी में व्यस्त रहीं। श्रीरामकृष्ण के आगमन में विलम्ब होता देख वे पता लगाने नन्द बोस के यहाँ गयीं।

वहाँ से शीघ्र ही लौटकर जब वे घर पहुँचीं, तो देखा कि श्रीरामकृष्ण भक्तों से घिरे हास्यमुख बैठे हुए हैं। गोलाप ने पहुँचकर ठाकुर को प्रणाम किया। वह आनन्द से इतनी विह्वल हो उठीं कि उन्हें कुछ समझ ही नहीं आ रहा था कि वे क्या कहें या क्या करें! वे बोल उठीं, "यह आनन्द मेरे लिए बहुत अधिक है, कहीं मैं मर न जाऊँ। अरी, देख, इतना आनन्द मैं कहाँ रखूँ? – बताओ री – जब मेरी चण्डी सिपाहियों को साथ लेकर आती थी और वे लोग रास्ते पर पहरा देते थे, तब भी तो मुझे इतना आनन्द नहीं हुआ – अरी, अब तो मुझे चण्डी का दु:ख जरा भी नहीं है।... जाऊँ, सबसे कहूँ, तुम आकर मेरा सुख देख जाओ।" – मारे आनन्द से अधीर होकर ब्राह्मणी फिर कहने लगी – "खेल (लाटरी) में एक रुपया लगाकर किसी कुली को एक लाख रुपये मिले थे। एक लाख रुपये मिले हैं – सुनकर मारे आनन्द के वह मर गया था! – अरी! मेरी भी तो वही दशा हो गयी है। तुम सब लोग आशीर्वाद दो, नहीं तो मैं भी सचमुच मर जाऊँगी।" सचमुच, गोलाप बाइबिल की मेरी के समान ही धन्य हुई थी, क्योंकि दोनों ने ही प्रभु के चरणों में बैठने का 'सर्वोत्तम काम' चुना था। श्रीरामकृष्ण बाद में महेन्द्रनाथ गुप्त से इन दोनों भक्त-महिलाओं के चरित्र की अतीव समानता के बारे में सुनकर बड़े आनन्दित हुए थे।

गोलाप के दु:खों को दूर करने की दृष्टि से श्रीरामकृष्ण ने एक दिन उन्हें अपने रात के भोजन की थाली लाने को कहा। इन कुछ सेवा-कार्यों पर श्रीमाँ का एकाधिकार था, परन्तु गोलाप का इस तथ्य की ओर कभी ध्यान नहीं गया। वे प्राय: ही श्रीरामकृष्ण को खिलाने में काफी समय व्यतीत करतीं और देरी से नौबतखाने में लौटतीं। इस कारण श्रीमाँ को गोलाप के साथ भोजन करने हेतु लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ती। सम्भवत: इससे श्रीमाँ परेशान हो उठी थीं। जब श्रीरामकृष्ण ने गोलाप का ध्यान इस ओर खींचा, तो उन्होंने सरल भाव से उत्तर दिया, "नहीं तो, माँ मुझे बहुत चाहती हैं और अपनी बेटी जैसी समझती हैं। वे तो मुझे पहले नाम से ही पुकारती हैं।" इस प्रकार उनमें सर्वदा सरलता और संवेदन-हीनता का विचित्र मेल दिखाई देता, जो उसके स्वभाव का एक अभिन्न अंग बन गया था।

गोलाप के आध्यात्मिक जीवन का कोमल पौधा दक्षिणेश्वर के अनुकूल वातावरण में क्रमश: विकसित होकर एक विशाल वृक्ष में परिणत हुआ था। वहाँ उन्हें ऐसे देवतुल्य श्रीरामकृष्ण मिले थे, जो यद्यपि संसार में रहते थे, पर वे पूरी तौर से उससे निर्लिप्त थे। वे सर्वदा ईश्वरीय भाव में मग्न रहकर नाचते, गाते और समाधि में डूब जाते। हम कह चुके हैं कि वह धीरे-धीरे श्रीमाँ से बहुत अधिक घनिष्ठ हो गयी थीं और यह श्रीरामकृष्ण के समीप आश्रय पाने की अपेक्षा कम महत्त्व की बात नहीं थी। श्रीरामकृष्ण ने एक दिन श्री सारदादेवी के विषय में गोलाप को बताया था, "वह सरस्वती है। उसने लोगों को ज्ञान देने के लिए मानवी तनु धारण किया है, परन्तु वह अपने दिव्य सौन्दर्य को छिपाकर आयी है, ताकि उसे देखकर लोगों के मन में किसी तरह के कलुषित विचार न उठें।"[९]

श्रीरामकृष्ण ने गोलाप का समस्त भार ग्रहण कर लिया था।[१०] उनके उपदेश गोलाप के अन्तस्तल की गहराइयों में पैठकर उनके भीतर अद्भुत रूप से आमूलचूल रूपान्तरण ला रहे थे। साधना-विषयक उपदेशों के अतिरिक्त कई अलौकिक घटनाओं ने भी उसके भीतर के विश्वास को और भी दृढ़तर कर दिया था। एक दिन दोपहर को श्रीरामकृष्ण को भोजन कराते समय गोलाप यह देखकर भौंचक्की हो गयी कि श्रीरामकृष्ण के मुख के भीतर एक साँप फन उठाकर प्रत्येक कौर को निगलता जा रहा है। श्रीरामकृष्ण द्वारा इस अनुभव की स्वीकृति और स्पष्टीकरण से गोलाप को और अधिक आलोक मिला।[११] शास्त्रों में इस प्रकार से भोजन करने को कुण्डलिनी-शक्ति को आहुति देना कहा गया है। एक अन्य दिन गोलाप ने श्रीरामकृष्ण को मन्दिर के उत्तरी बरामदे में भावावस्था में टहलते देखा। उन्होंने स्पष्ट देखा कि वहाँ श्रीरामकृष्ण नहीं, बल्कि मानो जगदम्बा ही टहल रही हैं। यह एक रोमांचकारी अनुभव था।[१२]

सारदादेवी के सान्निध्य में रहना मानो व्यावहारिक धर्म को समझना था। गोलाप ने भक्ति और समर्पण-भाव से श्रीमाँ की

९. स्वामी निखिलानन्द : 'होली मदर' (न्यूयार्क, रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र), पृ. ७९; **१०.** वैकुण्ठनाथ सान्याल : 'श्रीश्रीरामकृष्ण-लीलामृत' (बँगला) (कलकत्ता : एस. एन. सान्याल, द्वितीय संस्करण), पृ. ३६६; **११.** स्वामी सारदानन्द : 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', रामकृष्ण मठ, नागपुर, भाग २, प्रथम संस्करण, पृ. ३७० तथा स्वामी अरूपानन्द : 'श्रीश्री गोलाप-माता' (उद्बोधन, वर्ष २७, अंक १), पृ. ४९; **१२.** स्वामी सारदानन्द : 'भगवान श्रीश्रीरामकृष्ण' (कलकत्ता : उद्बोधन), पृ. १०

गृहस्थी की कई जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर ले ली थीं। श्रीमाँ का बाह्य आचरण ऐसा था कि अपनी गृहस्थी में वे दूसरों की नजरों से सर्वाधिक दूर रहा करती थीं, तथापि उनकी उस सादगी के पीछे उनका भव्य व्यक्तित्व था। उनकी गृहस्थी में प्रेम और पवित्रता का परिवेश बना रहता। वहाँ रहनेवाले जागरूक साधक शीघ्र ही अनुभव करने लगते कि धर्म सहज, मधुर और आनन्द-दायक वस्तु है; पवित्रता और सच्चरित्रता ऐसे सत्य हैं, जिनको मानो छुआ जा सकता है; वे यह भी अनुभव करते कि मधुर सुगन्ध की तरह पावनता उनके स्वार्थ की दुर्गन्ध को दूर किये दे रही है। इस प्रकार, पूरी तरह गृहस्थ का जीवन जीते हुए, विपरीत स्वार्थों की युद्धस्थली के बीच संघर्ष करते हुए, गोलाप ने सीख लिया था कि किस प्रकार अपने कर्तव्यों का पालन किया जाय, जिससे वे अपने ईश्वर-प्रेम में बाधक न बनें। वे पाँकाल मछली के समान थीं, जो पंक में रहते हुए भी उससे अलिप्त रहती है, या उस पनडुब्बी पक्षी के जैसी थीं, जो पानी में गोता लगाने के बाद अपने पंखों को एक बार फड़फड़ाकर सारा पानी झाड़ देता है। उसकी इस कर्म-कुशलता पर स्वयं श्रीमाँ ने ही प्रामाणिकता की मुहर लगायी थी। उन्होंने गोलाप के विषय में कहा था, "गोलाप जब भी कोई काम करती है, तो उसे पूरा मन लगाकर करती है, मानो वह जप-ध्यान कर रही हो – उसकी इतनी गहरी मानसिक लगन रहती है।"[१३]

ध्यान करने में पटु गोलाप आध्यात्मिक अनुभूति की ऊँचाइयों पर पहुँची थी। एक बार श्रीमाँ ने कहा था, "गोलाप और योगेन ने कितना जप-ध्यान किया है। गोलाप ने जप द्वारा सिद्धि प्राप्त कर ली है।"[१४] गोलाप ने स्वयं ही स्वीकार किया था, "श्री ठाकुर की कृपा से मुझे ध्यान में अपनी इष्ट भगवती तारा का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ था।"[१५] श्रीमाँ ने यह भी कहा था, "यह उसका अन्तिम जन्म है।"[१६]

इस प्रकार की कठोर साधना के अलावा उन्हें अनायास ही श्रीरामकृष्ण की अहैतुकी कृपा भी प्राप्त हुई थी। ऐसी ही एक कृपा २३ दिसम्बर, १८८५ को काशीपुर उद्यान में हुई थी। उस दिन भक्तों के प्रति करुणा-विगलित होकर श्रीरामकृष्ण ने भावावस्था में अपने श्रीचरणों से गोलाप के हृदयस्थल का स्पर्श किया था। इस समय गोलाप ने आनन्दपूर्वक अजस्र आँसू बहाये थे और उनका आध्यात्मिक जीवन घनीभूत हो उठा था।[१७]

गोलाप श्यामपुकुर में और उसके बाद काशीपुर उद्यान में श्रीरामकृष्ण की अन्तिम बीमारी के समय उनकी सेवा में सहायता करने हेतु श्रीमाँ के साथ थीं। श्रीरामकृष्ण ने कैंसर के घातक रोग से १६ अगस्त, १८८६ को लीलासंवरण कर लिया, परन्तु वे तब भी सूक्ष्म रूप से भक्तों की देखभाल और संरक्षण कर रहे थे। गोलाप अब पहले से अधिक श्रीमाँ पर आश्रित हो गयीं। चूँकि श्रीमाँ का आदर्श अपने पति और उनके लक्ष्य से पूर्ण एकात्मता का था, अत: गोलाप की साधना अविचलित भाव से चलती रही।

वस्तुत: गोलाप ने – १९२० में श्रीमाँ की महासमाधि तक – छत्तीस वर्ष उनकी सोत्साह, समर्पित एवं असन्दिग्ध निष्ठा के साथ सेवा की थी। वे श्रीमाँ की सदा सतर्क रहनेवाली सेविका थीं और उन्हें भक्तों की निरर्थक तथा बचकानी हरकतों से बचातीं। चाहे बेलूड़ मठ हो, या बागबाजार का घर अथवा जयरामवाटी – गोलाप सर्वत्र ही श्रीमाँ की निष्ठावान सेविका के रूप में सेवा में लगी हुई दीख पड़ती थीं। श्रीमाँ जब भी कहीं पैदल जातीं, तो वे एक छोटी बच्ची के समान गोलाप की साड़ी का छोर पकड़कर चलतीं। श्रीमाँ ने कहा था, "मैं गोलाप के बिना कहीं भी नहीं जा सकती। उसके साथ रहने से मुझे साहस मिलता है।"

कलकत्ता के उद्‌बोधन मठ का जीवन श्रीरामकृष्ण के मन्दिर तथा उनकी जीवन्त प्रतिनिधि श्रीमाँ पर केन्द्रित था। यद्यपि भारतीय सन्तों और ऋषियों ने उस निराकार ब्रह्म को अनन्त और अद्वितीय कहकर वर्णन किया है, तथापि गोलाप-माँ ने अपने दैनन्दिन जीवन में उस परम तत्त्व की आराधना करते समय उसे साकार एवं मूर्तरूप देने में कोई संकोच नहीं किया। इस प्रकार वे भीतर तथा बाहर के जगत् में – भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत् में मेल बैठाकर चलतीं; मूर्ति की पूजा उतनी ही यथार्थ एवं जीवन्त होती, जितनी स्नेही माता-पिता की सेवा। इस प्रकार घर-गृहस्थी के रोजमर्रा के काम पूजा जैसे पावन बन गये थे।

गोलाप की दिनचर्या बहुत सादी थी। उसके पीछे त्याग की वह प्रेरणा थी, जिसे श्रीरामकृष्ण ने उनके हृदय में अंकित कर दिया था। एक बार वे नाव द्वारा श्रीरामकृष्ण के साथ कलकत्ते से दक्षिणेश्वर गयी थीं। गोपाल-की-माँ तथा अन्य भक्तगण भी साथ थे। गोपाल-की-माँ ने बलराम बोस के परिवार द्वारा प्रदत्त कुछ वस्तुओं को साथ ले रखा था। श्रीरामकृष्ण ने गोलाप से कहा, "जो त्यागी है, उसी को भगवत्प्राप्ति होती है। जो दूसरों के घर जाकर, भोजन आदि के पश्चात् खाली हाथ लौटता है, वह भगवान के अंग के सहारे बैठा करता है, मानो त्याग और समर्पण द्वारा भगवान के समक्ष हठपूर्वक जोर दे सकता है।"[१८] यद्यपि ये शब्द गोपाल-की-माँ के लिए कहे गये थे, पर उनका गोलाप पर बड़ा सुदृढ़ प्रभाव हुआ था।

निस्संकोची, शुष्क और स्पष्टवादी गोलाप-माँ को समझने में लोग कभी-कभी भूल कर बैठते थे। पर उस बाह्य शुष्क आवरण के भीतर उनका सेवा के प्रति अथक पूर्णता का भाव और गहरी लगन होती। उनकी स्पष्टवादिता, उदारता और व्यापक दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हुए एक बार श्रीमाँ ने कहा

१३. 'वेदान्त केसरी', जुलाई १९५४, पृ. ७०; **१४.** स्वामी माधवानन्द और आर. सी. मजूमदार द्वारा सम्पादित 'ग्रेट विमेन ऑफ इंडिया', कलकत्ता १९५४, पृ. ४५१; **१५.** 'श्रीरामकृष्ण स्मृति', पृ. ३२; **१६.** 'ग्रेट विमेन ऑफ इंडिया', पृ. ४५२; **१७.** वचनामृत, भाग २, १९९९, पृ. १११९

१८. 'श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग', भाग २, सं. २००८, पृ. ७२४

कहा था, "गोलाप का मन बड़ा शुद्ध है; वह कभी विचलित नहीं होता। वह नहीं जानती कि अहंकार या दम्भ क्या है।"[१९] एक अन्य समय उन्होंने कहा था, "गोलाप का मन बहुत शुद्ध है। वृन्दावन में रहते समय, एक बार किसी बच्चे ने माधवजी के मन्दिर का प्रांगण गन्दा कर दिया था। गोलाप ने यात्रियों की असुविधा देखते हुए तत्काल अपने नये कपड़े को फाड़कर उस टुकड़े से वह जगह साफ कर दिया। पास में खड़े कुछ लोगों ने उनको गलत समझा, पर जो जानते थे उन्होंने उनकी इस स्वत:प्रेरित सेवा की प्रशंसा की थी। मानसिक पवित्रता पिछले जन्मों में की गयी कठोर तपस्या का फल है।"[२०]

तो भी गोलाप की बेतुकी बातों के लिए, किसी परिस्थिति को बेढंगे निपटाने के लिए, श्रीमाँ के लिए अतिचिन्ता के कारण निकली कटूक्तियों के लिए, अथवा श्रीमाँ की संन्यासी या गृही शिष्यों पर टीका-टिप्पणी करने के लिए फटकारने में – न तो श्रीरामकृष्ण ने कभी संकोच किया और न श्रीमाँ ने ही। श्रीमाँ गोलाप को समझाते हुए कहतीं, "मैं क्या करूँ, गोलाप? जब कोई 'माँ' कहकर मेरे पास आता है, तो मैं अपने को नहीं रोक पाती।"[२१] वे बार-बार गोलाप की कठोरता को यह कहकर सुधारतीं कि कड़वे सत्य को सदा दूर ही रखना चाहिए। अपने चरित्र में इस प्रकार की कभी-कभी क्षुब्ध करनेवाली कमी के बावजूद, ठाकुर और श्री माँ के द्वारा फटकारे जाने पर भी गोलाप का उन दोनों के प्रति असन्दिग्ध समर्पण अनुकरणीय था। गरीब और दु:खी लोगों के प्रति उनके गहरे प्रेम और सहानुभूति से उनके कोमल हृदय का परिचय मिलता। अपने नाती से प्राप्त छोटी मासिक सहायता का आधा भाग वे गरीबों की सेवा में लगा देतीं। उनकी सहृदयता, निरहंकारिता और सर्वोपरि, उनकी निष्ठा को देख उनको समीप से देखनेवाला कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उनका जीवन सचमुच 'अनासक्ति, प्रेम, सेवा और भक्ति की आन्तरिकता के गुणों से पूर्ण था।'[२२]

श्रीमाँ कभी-कभी अपनी जया[२३] के नाम से गोलाप का उल्लेख करतीं। श्रीमाँ के पावन दैनन्दिन जीवन के साथ वे इतनी घनिष्ठ रूप से जुड़ी थीं कि श्रीमाँ ने एक बार कहा था, "लोग मुझे देवी कहते हैं और कभी-कभी मुझे भी ऐसा ही प्रतीत होता है, नहीं तो मेरे जीवन में ये जो कई अलौकिक घटनाएँ होती हैं, उनकी कैसे व्याख्या हो सकती है? योगेन और गोलाप इस

१९. द्र : 'होली मदर' पृ. ६१-६२; **२०.** 'ग्रेट विमेन ऑफ इंडिया', पृ. ४५२; **२१.** स्वामी गम्भीरानन्द : 'होली मदर श्री सारदा देवी', मद्रास : रामकृष्ण मठ, द्वि.सं., पृ. ३६६; **२२.** 'प्रबुद्ध भारत', फरवरी १९२५, पृ. ९३; **२३.** जया और विजया माँ-जगद्धात्री की दो सेविकाएँ थीं। श्रीमाँ कभी-कभी गोलाप और योगीन का जया-विजया नाम से उल्लेख करतीं।

विषय में बहुत कुछ जानती हैं।"[२४] साथ ही, 'श्रीरामकृष्ण के पावन स्पर्श से धन्य होनेवाली' श्रीमाँ की अन्य सेविकाओं की भाँति ही गोलाप एक ऐसे अद्‌भुत स्तर तक उन्नत हो उठी थीं कि वे 'किसी भी नये धार्मिक भाव या विचार को तत्काल समझ लेतीं।'[२५] इससे उन्हें सामाजिक तथा धार्मिक रूढ़ियों से ऊपर उठकर अपने दृष्टिकोण को उदार और सहिष्णु बनाने में सहायता मिली थी। दूसरों के व्यवहार से क्षुब्ध एवं त्रस्त होने पर भी वे शीघ्र अपने आपको सँहाल लेतीं और वह सब भूलने में उन्हें जरा भी देर नहीं लगती।[२६]

उनके चरित्र के ऐसे विभिन्न गुणों के अतिरिक्त, उनके जीवन की मूल नींव में श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के जीवन तथा उपदेश इतनी गहराई तक जड़ जमा चुके थे कि उनकी शरणागति तथा श्रद्धा की कोई सीमा नहीं दीख पड़ती। वे मानो श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ के पुनीत प्रभाव की जीवन्त परिचालक बन गयी थीं। अन्य दूसरे सन्तों की तरह उनके भी अन्त:करण से उनके चारों ओर दया, भक्ति और आनन्द विकिरित होता रहता। साथ ही उनके भीतर रामकृष्ण-भाव-आन्दोलन के विषय में इतनी गहरी समझ विकसित हो गयी थी कि वे संन्यासी और गृही सभी तरह के भक्तों में उत्साह, विश्वास, आशा और ज्ञान का संचार करतीं।

उन्हें जब भी समय मिलता, विशेषकर अपराह्न में, वे श्रीमद्-भगवद्-गीता, महाभारत और साथ ही श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों का पाठ करतीं।[२७] नयी पीढ़ी के भक्तों के लिये दादी-माँ के रूप में वे गौरव का अनुभव करतीं तथा उन्हें अपनी ताजगी से भरी रोचक कथाएँ सुनाकर मुग्ध करतीं। योगीन-माँ की तरह वे भी भगिनी निवेदिता को पुराणों से कहानियाँ सुनातीं।[२८] वे दूसरों के, विशेषकर स्वामी ब्रह्मानन्दजी द्वारा किये गये हास-परिहास का भी रसास्वादन करतीं।

गोलाप-सुन्दरी श्रीमाँ की महासमाधि के चार साल बाद तक जीवित रहीं। छोटी-मोटी तीर्थयात्राओं की बात छोड़ दें, तो इन सन्त-महिला का जीवन आश्रम-भवन की चहारदीवारी के भीतर निरन्तर तपस्या और आध्यात्मिक परिपूर्णता से भरा हुआ था और वह अन्तत: १९ दिसम्बर, १९२४ को श्रीरामकृष्ण-सारदा देवी के दिव्य प्रकाश में विलीन हो गया। ❑❑❑

२४. स्वामी तपस्यानन्द : 'श्री श्री सारदा देवी, द होली मदर', मद्रास : श्री रामकृष्ण मठ, पंचम संस्करण, पृ. ११०; **२५.** भगिनी निवेदिता : 'द मास्टर ऐज आइ सा हिम', कलकत्ता, उद्‌बोधन, पृ. १०७-८; **२६.** स्वामी अरूपानन्द : 'श्रीश्रीगोलाप-माता', पृ. ५४; **२७.** 'विमेन सेंट्स ऑफ ईस्ट एंड वेस्ट' (लन्दन : रामकृष्ण-विवेकानन्द केन्द्र, १९५५), पृ. १३२; **२८.** शंकरी प्रसाद बसु : 'निवेदिता लोकमाता' (बँगला), कलकत्ता : आनन्द पब्लिशर्स, भाग १, पृ. २००

स्वामी अचलानन्द (४)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये । कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था । प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा । इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है । हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है । – सं.)

स्वामीजी के अग्निमय सम्पर्क में रहते-रहते वैराग्य की उत्तप्त भावना ने केदार बाबा को अधिक दिन चुप नहीं रहने दिया । एक दिन स्वामीजी को एकान्त में पाकर उन्होंने उन्हीं के चरणों में आश्रय माँगते हुए उनसे संन्यास-दीक्षा के लिये प्रार्थना की । स्वामीजी बोले, "दस घर से भिक्षा माँग कर खा सकेगा?" केदार बाबा ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया, "आपका आशीर्वाद रहा तो कर सकूँगा ।" उत्तर सुनकर स्वामीजी ने प्रसन्न होकर कहा था, "यहीं पड़ा रह, सब हो जायेगा ।"

आखिरकार आगामी बैशाख के महीने में (मई १९०२) बुद्ध-पूर्णिमा के दिन स्वामीजी ने केदार बाबा की मनोकामना पूर्ण की । उन्होंने स्वामी बोधानन्द को संन्यास के अनुष्ठान की सब व्यवस्था करने का आदेश दिया था । उस निर्दिष्ट रात को आनन्द तथा उद्विग्नता के कारण केदार बाबा को नींद नहीं आयी । भोर हो गयी समझकर रात के दो बजकर बीस मिनट पर ही उन्होंने स्वामी निश्चयानन्द को घण्टा बजा देने को कह दिया । उनके घण्टा बजाने पर स्वामी बोधानन्द मन्दिर की ओर जाने लगे । उसी समय स्वामीजी ने उठकर पूछा, "इतनी रात मन्दिर में कौन जाता है?" स्वामी बोधानन्द द्वारा घण्टा बजने की बात कहने पर वे बोले, "वह बड़ा नर्वस हो गया है ।" खैर, थोड़ी देर बाद स्वामीजी ने मन्दिर में जाकर अपने लिये निर्दिष्ट आसन पर बैठकर केदार बाबा को संन्यास-दीक्षा प्रदान की । शिष्य द्वारा विरजा-होम में पूर्णाहुति दिलाने के बाद ब्रह्मविद् आचार्य ने उन्हें 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' श्रीरामकृष्ण के चरणों में अर्पित किया । जगत् में केदारनाथ को एक नया जन्म मिला । अचला भक्ति-विश्वास का आशीर्वाद देने के बाद श्रीगुरु ने उन्हें 'अचलानन्द' नाम प्रदान किया । अचलानन्द के साष्टांग प्रणाम करके उठते ही स्वामीजी बोले, "आज से तेरे समस्त सांसारिक कर्मों का नाश हुआ ।" अचलानन्द ही स्वामीजी के अन्तिम संन्यासी शिष्य हुए – इसके बाद उन्होंने अन्य किसी को संन्यास की दीक्षा नहीं दी ।

एक दिन स्वामीजी पुराने मन्दिर के बरामदे में बैठे थे । मठाध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्द भी उन्हीं के पीछे खड़े थे । सहसा अचलानन्द को जाते देखकर स्वामीजी ने उन्हें पुकारा और कहा, "इधर आ । जा कुछ फूल तोड़कर ला ।" अचलानन्द दौड़कर कुछ फूल चुन लाये । शिष्य के हाथों में फूल देखकर स्वामीजी ने आह्लादपूर्वक कहा, "ले, मेरी पूजा कर – नित्य करना ।" अचलानन्द ने जी भरकर श्रीगुरु के चरणों में पुष्पांजलि दी । उन्होंने स्वयं ही कृपापूर्वक बुलाकर उनकी पूजा स्वीकार की है – यह सोचकर अचलानन्द के आँखों से आँसू बहे जा रहे थे । इसके बाद स्वामीजी ने फिर कहा, "जा, एक बार फिर फूल तोड़ ला ।" फूल ले आने पर वे बोले, "अब अध्यक्ष की पूजा कर । गुरु और अध्यक्ष को एक समझना । नित्य पूजा करना ।" संघाध्यक्ष श्रीगुरु के ही प्रतिनिधि हैं – यह भाव शिष्य के मन में दृढ़तापूर्वक बैठा देने के लिये ही स्वामीजी ने इस घटना की सृष्टि की थी । स्वामीजी ने उस दिन उन्हें यह भी उपदेश दिया था, "सभी मामलों में अध्यक्ष का आदेश स्वीकार करना ।" अचलानन्द के जीवन में हम देखते हैं कि अपने गुरुदेव से प्राप्त इस शिक्षा को उन्होंने आजीवन स्मरण रखा था । इस प्रसंग में उनके परवर्ती जीवन की एक घटना को यहाँ स्मरण करना अनुचित नहीं होगा –

अचलानन्द जो कुछ भी करते, मठाधीश स्वामी ब्रह्मानन्द जी के उपदेश तथा सलाह के अनुसार ही करते थे । जब वे उत्तराखण्ड के स्वर्गाश्रम में रहकर तुरीयानन्द जी की प्रेरणा से तपस्या करने में लगे थे, तब ब्रह्मानन्द जी ने बारम्बार उन्हें अधिक कठोरता करने से मना किया था । पर वे महाराज के निषेध को न मानकर तुरीयानन्द जी के अनुकरण पर प्रचण्ड कठोरता कर रहे थे । करीब छह महीने की अमानुषिक तपस्या के फलस्वरूप उनका इतना बलिष्ठ शरीर भी टूट गया । एक दिन जब वे सहसा आसन से उठने लगे, तो उनका सिर चकराने लगा । बाद में एक अन्य दिन गंगाजी के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखकर वे स्वयं ही डर गये । राजा महाराज उस समय सम्भवत: पुरी या भुवनेश्वर में थे । उन्होंने यह समाचार पाते ही अचलानन्द को अपने पास बुला भेजा । महाराज ने उनके कंकालमय दुर्बल शरीर को देखकर खेद प्रकट करते हुए कहा था, "अहा केदार बाबा, तुमने हरि भाई के पल्ले पड़कर अपने इतने स्वस्थ-सबल शरीर को बिल्कुल नष्ट कर डाला ! खैर, जो होना था, हुआ । अब तुम मेरे पास रहो ।" अचलानन्द के शरीर में उसी समय जो भग्नता आयी थी, उसके फलस्वरूप वे दुबारा कभी स्वस्थ नहीं हो सके । इसीलिये वे प्राय: कहते थे, "हाय रे मेरा भाग्य ! स्वामीजी के निर्देश के बावजूद मैंने ऐसी भूल की । यह सोचकर और भी अधिक दु:ख होता है कि मैं जीवन के हर मामले में, सभी

कार्यों में महाराज का निर्देश मानकर चलता हूँ, पर इस विषय में मैंने कैसी भयंकर भूल की है ! हरि महाराज जो कर सकते हैं, वह मेरे द्वारा भला कैसे सम्भव है? उनके साथ क्या किसी की तुलना हो सकती है? मैंने महाराज का निषेध नहीं माना – गुरुवाक्य का उल्लंघन किया है । इसीलिये मेरे शरीर की इतनी दुर्दशा हो रही है !'' इस तपस्या के विषय में उन्होंने एक अन्य समय कहा था, ''हरि महाराज के मुख से त्याग-वैराग्य तथा कठोर तपस्या की ऐसी तीव्र प्रेरणा मिली कि मैं स्वर्गाश्रम में जाकर तपस्या में तल्लीन हो गया । किसी भी ओर ध्यान नहीं था – यह भी ज्ञात न रहा कि दुनिया है या नहीं । मेरा शरीर काफी मजबूत था, अत: अन्य लोग जितने शारीरिक क्लेश का अनुभव करते हैं, स्वामीजी की कृपा से मैं इतनी जल्दी वैसा अनुभव नहीं करता था ।''

स्वामी ब्रह्मानन्द के परवर्ती अध्यक्षों के प्रति भी अचलानन्द की श्रद्धा-भक्ति सचमुच ही अनुकरणीय थी । अपने जीवन के अन्तिम पर्व में जब वे स्वयं भी संघ के सहाध्यक्ष के रूप में सबके भक्तिभाजन हुए, संघाध्यक्ष के प्रति उनकी हार्दिक श्रद्धा तथा विनम्र आज्ञाकारिता देखने की चीज थी । चाहे काशी में हों या बेलूड़ मठ में, गुरुपूर्णिमा के दिन जब वे मठाधीश स्वामी विरजानन्द जी को पुष्प तथा अर्घ्य प्रदान करते और गले में वस्त्र लपेटे साष्टांग प्रणाम करते; तब वे अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ हाथ जोड़े विरजानन्द जी से कुछ निवेदन करते; अथवा उनकी यात्रा के दौरान गाड़ी के वाराणसी स्टेशन में रुकने पर जब अचलानन्द काशी के सेवाश्रम से आकर हाथों में धूप-माला आदि लिये संघगुरु का दर्शन करते – वह सब दृश्य जिसे देखने का सौभाग्य मिला है, वे ही समझ सके हैं कि वे स्वामीजी की उक्त शिक्षा का किस प्रकार पूरे हृदय से पालन किया करते थे । विरजानन्द जी को प्रणाम करते समय उनके मुख से सुनने में आता था, ''गुरुवत् गुरुपुत्रेषु ।''

अस्तु । अब हम अचलानन्द के मठ-जीवन की ओर ही लौट चलते हैं । वाराणसी में भिनगा के राजा ने स्वामीजी से विशेष अनुरोध किया था कि वे वैदिक संस्कृति के पीठस्थान वाराणसी में वेदान्त-प्रचार के लिये कोई स्थायी व्यवस्था करें । स्वामीजी ने मठ से इस कार्य के लिये स्वामी शिवानन्द जी को चुना । शिवानन्द जी की इच्छानुसार स्वामीजी ने अचलानन्द को भी कर्मी के रूप में उनके साथ भेजा । १९०२ ई. के २५ या २६ जून को वे लोग स्वामीजी का आशीर्वाद लेकर वाराणसी की ओर रवाना हुए । स्थूल शरीर में स्वामीजी के साथ अचलानन्द की यही अन्तिम भेंट थी । नौ महीनों तक श्रीगुरु के संग रहकर उन्होंने जो अमूल्य पाथेय संग्रह किये थे, उन्हें उन्होंने अपने हृदय के भण्डार में सँभालकर रख लिया था । क्षण भर के लिये भी इतने विराट् व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर जीव की अपार दुर्गति का नाश हो जाता है और अचलानन्द का यह नौ महीनों का घनिष्ठ सान्निध्य कितना फलदायी हो सकता है, यह नि:सन्देह अनुभव की ही बात है । इसीलिये तुरीयानन्द जी के वाराणसी आने पर अचलानन्द के साथ प्रथम परिचय के समय जब उन्होंने सुना कि उन्हें स्वामीजी के नौ महीने तक संगलाभ का दुर्लभ सौभाग्य मिला है, तो स्वामीजी-गतप्राण तुरीयानन्द जी अश्रुपूर्ण नेत्रों के साथ अचलानन्द की ओर एकटक देखते हुए विस्मयपूर्ण स्वर में बारम्बार कह उठे थे, ''नौ महीने !!''

अचलानन्द महापुरुषजी के साथ काशी में आकर पहले अनाथाश्रम में ही ठहरे थे । इसके बाद ४ जुलाई १९०२ को दस रुपये मासिक किराये पर लक्सा मुहल्ले में 'खजांची का बगीचा' नामक एक उद्यान-भवन में स्वामीजी द्वारा परिकल्पित वेदान्त-साधना के लिये आश्रम की स्थापना हुई । परन्तु अगले दिन रात में ही दु:संवाद लिये हुए एक तार आ पहुँचा – स्वामीजी की मर्त्यलीला समाप्त हो चुकी है । शिवानन्द जी तथा अचलानन्द की तत्कालीन मानसिक अवस्था को भाषा द्वारा व्यक्त करना असम्भव है । जो भी हो, निश्चय हुआ कि इस शिवक्षेत्र काशी से ही स्वामीजी का उद्भव हुआ है और इस विश्वनाथ-पुरी में ही उनकी अन्तिम इच्छा के अनुसार वेदान्त-धर्म के प्रचार का केन्द्र स्थापित हुआ – और उनके मर्त्यलोक में रहते-रहते ही जो कार्यरूप में परिणत हो गया, इस घटना के पीछे एक गूढ़ तात्पर्य है । अत: महापुरुष महाराज ने निश्चित किया कि वे अपने प्राणों से भी प्रिय स्वामीजी की आज्ञा का अक्षरश: पालन करने के लिये वाराणसी के इस आश्रम के कार्य में ही अपना जीवन समर्पित कर देंगे । अचलानन्द भी हर प्रकार से उनके सहायक हुए । आश्रम का नाम रखा गया – 'श्रीरामकृष्ण अद्वैत-आश्रम' । अचलानन्द को अपने उस चित्र की बात याद आ गयी । वह चित्र तब भी उनके किसी मित्र के घर में संरक्षित था । रथयात्रा के दिन उसी चित्र को लाकर आश्रम में स्थापित कर दिया गया । महापुरुष जी ने प्रस्ताव रखा, ''यहाँ ठाकुर के साथ-साथ स्वामीजी की भी स्थापना की जाय ।'' अचलानन्द के पास स्वामीजी के परिव्राजक वेश का एक छायाचित्र था – उसी को ठाकुर के साथ स्थापित कर दिया गया ।

१९०४ ई. तक काशी का श्रीरामकृष्ण अद्वैत-आश्रम ही अचलानन्द की साधना तथा कर्म का क्षेत्र बना रहा । व्याख्यान आदि के द्वारा वेदान्त के प्रचार की जगह, अपने जीवन द्वारा लोगों के समक्ष वेदान्त के तत्त्व को प्रस्तुत करना ही शिवानन्द जी का भाव था । अत: ध्यान-धारणा, पूजा-पाठ, जप-सच्चर्चा आदि पर ही उनका ज्यादा जोर था । अचलानन्द के लिये भी यह बड़ा अनुकूल था, अत: वे आनन्दपूर्वक उत्तरोत्तर आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने लगे । सेवाश्रम के युवा कर्मीगण भी महापुरुष महाराज के प्रत्यक्ष संसर्ग तथा अचलानन्द के सक्रिय

उद्यम से खूब उत्साह तथा प्रेरणा पाते थे। यहाँ स्मरण रखना आवश्यक है कि स्वामीजी के निर्देशानुसार ही 'अनाथाश्रम' का नाम बदल कर 'सेवाश्रम' (होम ऑफ सर्विस) कर दिया गया था। अस्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन दिनों शिवानन्द जी के ध्याननिष्ठ जीवन के प्रभाव से अचलानन्द के व्यक्तिगत जीवन को भी काफी प्रेरणा मिली थी। १९०३ ई. के जुलाई में राजा महाराज वृन्दावन जाते समय काशी में उतरे और लगभग एक माह अद्वैत-आश्रम में ही बिताया। उन्होंने कृपा करके इस आश्रम में एक व्यक्ति को दीक्षा भी प्रदान की थी।

१९०४ ई. में अचलानन्द को मद्रास के मठ में स्वामी रामकृष्णानन्द जी के पास सहायक के रूप में भेज दिया गया। वहाँ उन्हें करीब ११ महीनों तक रामकृष्णानन्द जी के पवित्र संग में निवास करने का सुयोग मिला था। इसके बाद वहाँ से लौटकर वे एक बार फिर काशी के सेवाश्रम के कार्य में ही लग गये थे। १९०७ ई. के जुलाई में जितेन[१], खगेन तथा गिरिजा नामक तीन युवकों ने जयरामबाटी में श्रीमाँ से गेरुआ वस्त्र प्राप्त किया और माँ के आदेश पर वाराणसी में आकर स्वामी शिवानन्द जी से संन्यास नाम ग्रहण किया। क्रमशः उनके नाम हुए थे विशुद्धानन्द, शान्तानन्द और गिरिजानन्द। इन तीनों वैराग्यवान नवीन संन्यासियों को अचलानन्द ही अपने साथ भिक्षा के लिये छत्र में ले जाया करते थे – वे लोग कुछ-कुछ दिन एक-एक छत्र में भिक्षा लिया करते थे। संन्यास आश्रम से अनभिज्ञ इन तीनों साधुओं को उस समय अचलानन्द ने ही विभिन्न प्रकार से सहायता की थी।

सेवाश्रम का तब भी कोई अपना भवन नहीं था। १९०७ ई. के अन्त में लक्सा मुहल्ले में लगभग पाँच बिघा (पौने दो एकड़) जमीन का पता मिला। कुछ उदार लोगों के दान और स्वामी सारदानन्द जी के अनुमोदन तथा उपस्थिति में वह जमीन सेवाश्रम के लिये खरीद ली गयी। १९०८ ई. के १६ अप्रैल को स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने इस नवीन भूखण्ड पर सेवाश्रम की आधारशिला रखी। इसके बाद स्वामी विज्ञानानन्द जी द्वारा बनाये गये नक्से के अनुसार भवन आदि के निर्माण की देखरेख का भार अचलानन्द ने ग्रहण किया। इस कार्य में स्वामी सच्चिदानन्द भी उनके सहयोगी रहे। अचलानन्द ने राजा महाराज के आदेश पर सेवाश्रम के लिये धन-संग्रह तथा भवन-निर्माण आदि के उत्तरदायित्व का श्रद्धापूर्वक निर्वाह किया था। साधना और तपस्या में अचलानन्द का विशेष अनुराग देखकर महाराज ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा था, "इन वार्डों का निर्माण पूरा होते ही तुम्हें छुट्टी मिल जायगी।" अचलानन्द भी उसे गुरुवाक्य मानकर गृह-निर्माण का कार्य शीघ्रतापूर्वक पूरा करने के प्रयास में लग गये। अन्ततः १९१० ई. के १६ मई को अचलानन्द ने महाराज जी के कर-कमलों में सचन्दन-पुष्प-बिल्वपत्र के अर्घ्य सहित सेवाश्रम के नव-निर्मित भवनों का समर्पण किया। इन भवनों का द्वारोद्घाटन करने के बाद महाराज ने भी उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा, "बस, केदार बाबा, अब तुम्हारी छुट्टी है।" महाराज ने उनसे और भी कहा, "परन्तु देखो केदार बाबा, हमें सेवा के मार्ग से ही आगे बढ़ना होगा। सभी कार्यों के बीच नाम का चक्का भी ठीक-ठीक घूमते रहना चाहिये।"

केदार बाबा का परवर्ती जीवन इस बात का साक्षी है कि वे किस प्रकार इस सेवा तथा उपासना को समानान्तर रूप से चलाते रहने में प्रयत्नशील हुए थे। दिन का कार्य समाप्त हो जाने के बाद थोड़ा-सा कुछ अल्पाहार ग्रहण करने के बाद वे सेवाश्रम से थोड़ी ही दूरी पर स्थित एक निर्जन टीले पर चले जाते। वहीं पूरी रात साधन-भजन में बिताने के बाद अगले दिन भोर में वे फिर सेवाश्रम में चले आते। रात में वे कुछ भी नहीं खाते। सेवाश्रम से भी वे कितना प्रेम करते थे, यह पुराने साधुओं के मुख से सुनी हुई बातों से भी समझा जा सकता है, "सेवाश्रम की बात उठते ही केदार बाबा कहते, 'इसकी एक-एक ईट हमारे सीने की एक-एक हड्डी के समान है।' इसमें किसी प्रकार का तोड़-जोड़ करना वे पसन्द नहीं करते थे।"

इसके बाद हम अचलानन्द को कोठार में श्रीमाँ के पुनीत सान्निध्य में देख पाते हैं। १९१० ई. में माँ जब दक्षिणी भारत के तीर्थों की यात्रा पर गयीं, तो मार्ग में उन्होंने उड़ीसा के कोठार में दो महीने बिताये थे। इसके बाद उन्हें कुछ दिन पुरी में स्वामी ब्रह्मानन्द जी के साहचर्य में रहकर साधन-भजन करने का सुयोग मिला था। १९१२ ई. में कल्याणानन्द के बुलावे पर महाराज अपने तुरीयानन्द जी, शिवानन्द जी आदि संगियों को लेकर कनखल के सेवाश्रम में गये थे, उस समय अचलानन्द भी उन लोगों के साथ थे।

उसी वर्ष का ८ नवम्बर (कालीपूजा के बाद वाला दिन) वाराणसी-सेवाश्रम के इतिहास का एक पुनीत दिवस है। उस दिन प्रातः श्रीमाँ ने सेवाश्रम में पदार्पण किया था। स्वामी ब्रह्मानन्द जी, शिवानन्द जी तथा तुरीयानन्द जी आदि श्रीरामकृष्ण के शिष्यगण भी उस दिन वहाँ उपस्थित थे। मास्टर महाशय (श्रीम) भी उस समय काशी में ही थे। अचलानन्द ने माँ की पालकी के साथ-साथ चलते हुए उन्हें सेवाश्रम के सारे नव-निर्मित भवनों का परिदर्शन कराया था। सेवाश्रम की स्थिति तथा प्रबन्ध आदि को देखकर माँ ने अचलानन्द से कहा था, "यहाँ पर ठाकुर स्वयं ही विराज कर रहे हैं, माँ-लक्ष्मी पूर्ण होकर उपस्थित हैं।" अचलानन्द ने विनयपूर्वक माँ को सूचित किया, "दीनानाथ महाराज (स्वामी सच्चिदानन्द या बूढ़े बाबा) ने मकानों के निर्माण की देखरेख की है।" इस पर ब्रह्मानन्द जी ने माँ से कहा, "केदार बाबा के अथक परिश्रम तथा देख -रेख से ही यह सब सम्भव हो सका है।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

१. स्वामी विशुद्धानन्द जी, जो बाद में रामकृष्ण संघ के ८ वें अध्यक्ष हुए।

सारगाछी की स्मृतियाँ (६)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुये वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और ब्रह्मचारी बोधमय चैतन्य ने किया है, जिसे विवेक ज्योति के पृष्ठों में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – संपादक)

२५-०२-५९

महाराज जी का शरीर थोड़ा ठीक है। शाम को टहलते-टहलते महाराज जी कहने लगे – देखो, मैं देख रहा हूँ (दो अँगुलियों से गोल छेद की तरह बनाकर) कि प्रेमेशानन्द के शरीर में रोग हुआ है। वह कष्ट पा रहा है। सैद्धान्तिक रूप से बहुत कुछ बोला जाता है, किन्तु कार्य रूप में परिणत करना कठिन है, कनखल से गौर आया है। उसने कहा कि वहाँ किसी ने समझाया है कि आनन्दमय कोष सुषुप्तिकाल की अवस्था है ! सुषुप्ति काल में मन अज्ञान में ढँका रहता है, अविद्या माया से आवृत रहता है! किन्तु आनन्दमय कोष में मन विद्यामाया से आवृत रहता है। ईश्वर उन लोगों की सहायता करते हैं, जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं – God helps those who help themselves.

जब स्वयं प्राणपण से कोशिश करते-करते लगने लगता है कि मैं अब और नहीं कर पा रहा हूँ, तब महामाया आकर पर्दा हटा देती हैं। यही है महामाया की कृपा ! भक्त की दृष्टि में यही कृपा है। ज्ञानी की दृष्टि में वह अपने विराट परमात्मा को समझ रहा है। जितना ही वह अपने विराट परमात्मा को समझ रहा है, उतना ही वह कृपा प्राप्त कर रहा है, इसका अनुभव करता है। तुम्हारी इच्छा नहीं रहने पर, तुम देने पर भी नहीं लोगे। ठाकुर तो कृपा करने के लिये ही बैठे थे। भवनाथ, पल्टू, पूर्ण, क्या उनलोगों पर ठाकुर की कृपा कम थी? किन्तु उनलोगों की इच्छा नहीं रहने से वे क्या करेंगे?

"किन्तु संग का प्रभाव होता है। जैसा संग होगा, वैसा स्वभाव बनता है। इसीलिये तो साधु-संग की आवश्यकता है। साधु-संग के कारण व्यक्ति अपने मन में तात्कालिक शक्ति का अनुभव करता है और बहुत आगे बढ़ जाता है तथा उसे महापुरुषों की कृपा समझता है। अत: महापुरुष जो इच्छा हो, वही कर सकते हैं, यह बात सही नहीं है। प्रत्येक के अन्दर भगवान हैं। भगवान की इच्छा नहीं होने से कुछ भी होनेवाला नहीं है।"

आज फिर से शरीर थोड़ा अस्वस्थ है। बात करने से कष्ट हो रहा है। सेवक ने बड़े दुखित मन से कहा – "और आशा नहीं है।" प्रेमेश महाराज ने कहा – "हमारी और क्या आशा है।" सेवक ने कहा – "हाँ, किन्तु हमलोगों की इच्छा है।"

महाराज – "जितने दुखी हैं, आशा से ही हैं – आशा हि परमं दु:खं नैराश्यं परमं सुखम्। जितनी ही आशा होगी, उतना ही दु:ख होगा। जितना ही सुख होगा, उतना ही दु:ख होगा, सुख-बोध अधिक होने से दु:ख-बोध भी उतना ही अधिक होगा। इच्छा क्या है? अभाव की प्रतिक्रिया ही इच्छा है।"

सेवक – महाराज, आपके शरीर में जो कष्ट हो रहा है उसका क्या कारण है? क्या आपने किसी स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन किया है।

महाराज – अवश्य ही। योगी बनने के लिये जिन नियमों का पालन करना चाहिये था, उन सब का पालन तो नहीं हुआ। इसीलिये तो तुमलोगों को इतना सावधान करता हूँ। असली बात है शक्ति – शक्ति का संरक्षण (Conservation of Energy) क्या हम लोगों का शरीर योग के योग्य है? शक्ति केवल वीर्यपात बन्द करने से ही नहीं होती है। किसी व्यक्ति को देखकर मन में लोभ, क्रोध और खिन्नता होती है, इन सब से भी शक्ति नष्ट होती है, देखो न, एक दिन एक घण्टा काष्ठवत बैठकर, उसके बाद सात दिन तक सिर नहीं उठा सकोगे। मैंने महेन्द्र बाबू को देखा था। वे बारूई जाति के थे, किन्तु उनका शरीर योग के उपयुक्त था। सब जानता हूँ, सब पढ़ा हूँ – ब्रह्म हम लोगों की हाथों की मुट्ठियों में हैं। किन्तु डर लगता है कि कहीं मस्तिष्क में कुछ हो जाय तो ! इसलिये तुमको राजयोग की पुस्तक पढ़ने के लिये कहता हूँ। प्राण की प्रतिक्रिया को समझ लेने से बहुत सुविधा होगी।

सामाचार भेजा गया था, डॉक्टर आये हैं। महाराज जी का शरीर बहुत ही अस्वस्थ है। महाराज ने हँसते हुए डॉक्टर को अभिवादन किया और कहा – "अब और नहीं चल रहा है, यह ढाँचा और नहीं।"

डॉक्टर – तो फिर बदलना होगा ?

महाराज – नहीं, वह सब और कहाँ हो रहा है? माँ ने वचन दिया है कि और जन्म नहीं लेना होगा। हाँ, जिसकी भी माँ से दीक्षा हुई है, उसका नाम सूची में आ चुका है। वह जायेगा ही जायेगा। स्थान का आरक्षण हो चुका है।

थोड़ी देर बाद एक दूसरे प्रसंग में प्रेमेश महाराज ने कहा – "हम लोगों की प्रियतम वस्तु, हम लोगों के ईष्टदेवता श्रीरामकृष्ण हैं। वही श्रीरामकृष्ण कभी सगुण, कभी निर्गुण

और कभी सभी जीवों में हैं। जैसे काशी की गंगा का स्पर्श करने से, हरिद्वार से गंगोत्री पर्यन्त गंगाजी का स्पर्श करना हो जाता है। वैसे ही श्रीरामकृष्ण के किसी एक भाव का आश्रय करने से श्रीरामकृष्ण एवं उनके अन्य भावों को भी जाना जा सकता है। वही श्रीरामकृष्ण सभी प्राणियों में हैं, छात्रों में हैं।

सेवक को स्कूल में पढ़ाने जाना है। उसके द्वारा अनिच्छा व्यक्त करने पर महाराज ने उससे कहा – "तुम विद्यालय में मास्टरी – शिक्षण-कार्य कर रहो हो, यह बहुत अच्छा है। यह बिल्कुल प्रत्यक्ष सेवा है। अन्यान्य सब अप्रत्यक्ष सेवा है। सोचना कि तुम्हारे श्रीरामकृष्ण ही प्रत्येक विद्यार्थी के रूप में विद्यमान हैं। इससे सेवा बहुत अच्छी होगी।"

१३.०३-१९५९

सेवक – योगी इस जगत को ब्रह्ममय देखते हैं, यह जगत विवेकवान के लिये दु:खमय है और भोगी की दृष्टि में भोग की वस्तु है, इस प्रकार भेद क्यों है?

महाराज – देखो, हमलोग जो कुछ देखते हैं, उसमें वस्तु को नहीं देखते हैं – प्रक्रिया (process) को देखते हैं और प्रक्रिया को ही वस्तु मान लेते हैं। किसी की दृष्टि में जो सत्य है, वही दूसरे के लिये मिथ्या है।

मैंने ऋषिकेश में देखा था – एक मिस्त्री पत्थर तोड़ रहा था। विशाल लोहे के हथौड़े से पत्थर पर मार रहा था। पहले पाँच बार में कुछ भी नहीं हुआ, छठवीं बार में दरार दिखायी दिया। अर्थात् पहले बाहर से कुछ समझ में नहीं आने पर भी क्रिया हो रही थी। छठवीं बार की दरार उसी का फल है। सातवीं बार में वह पत्थर टूट गया। वैसे ही संसार में आघात खा-खा कर जब और आघात सहन नहीं होगा, आघातों के चोट से टूट जाऊँगा, तब मन ईश्वर की ओर जायेगा। इसलिये संसार में किसी भी प्राणी से घृणा नहीं करनी चाहिए। आज जो व्यक्ति ईश्वर को नहीं समझ पा रहा है, इसलिये वह हेय नहीं है, हो सकता है धीरे-धीरे प्रक्रिया चल रही है। कभी वह टूट पड़ेगा (अर्थात् ईश्वर की ओर मन जायेगा)

एक गाँव के डॉक्टर बीच-बीच में आश्रम में आते हैं। वे कभी-कभी खजूर का रस, गुड़ एवं परवल आदि भेजते हैं। एक व्यक्ति उनकी निन्दा कर रहा था। महाराज ने कहा – "देखो, उसका मन अभी शुभेच्छा के स्तर पर है। इसी के द्वारा धीरे-धीरे ईश्वर से प्रेम होगा। हमलोग लोगों का दोष देखते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। हमें सत्य-तथ्य को ही लेना है। दोष देखने का अर्थ यह नहीं है कि किसी व्यक्ति को नीचा करके देखा जाय। उसका अर्थ यह है कि मुझे उससे शिक्षा लेना है और स्वयं को सावधान होना है।"

एक बार एक वृद्ध ने महाराज जी से पूछा, यदि हरिनाम से ही सब कुछ होता है, तो इंद्रिय-संयम क्यों किया जाय?

महाराज जी ने इस बात को लेकर बहुत दिनों तक हास-परिहास किया था। आज वही वृद्ध आये हैं। उन्हें देखते ही महाराज ने बुलाया, पास में बैठने के लिये कहा और उनसे विभिन्न समाचार पूछा।

सेवक – ईश्वर तो कोई व्यक्ति नहीं हैं, निश्चय ही, उनकी इच्छा भी नहीं है, तो फिर जीवों के दु:ख को देखकर उनका कातर होना या अवतीर्ण होना, यह कैसे?

महाराज – ईश्वर वास्तव में अवतीर्ण नहीं होते हैं। ऐसा लगता है कि अवतीर्ण हुए हैं। जब तक 'कच्चा मैं' नहीं जाता, तब तक स्वयं का (Grater Self) महानतर आत्मा का अवतरण आदि समझना होगा। यह सत्य तथ्य (Statement of fact) है। इस शरीर के अन्दर प्रवेश करते ही तो स्वयं के स्वरूप को भूल जाता हूँ। तब लगता है कि ईश्वर अवतीर्ण होते हैं। जब तक देह-बुद्धि रहेगी, तब तक ईश्वर का अवतरण भी सत्य है।

सेवक – श्रीरामकृष्ण को ईश्वर क्यों कहा जाता है?

महाराज – सभी प्राणी ही तो ईश्वर हैं, किन्तु श्रीरामकृष्ण इसलिये ईश्वर रूप में पूजित हैं कि उन्होंने स्वयं को अधिक समझा था। जो जितना अधिक स्वयं को जान सकेगा, वह उतना अधिक ईश्वरत्व प्राप्त करेगा। श्रीरामकृष्ण ने सब कुछ समझा था।

सेवक – क्या गोपाल की माँ को ज्ञानयोग की धारणा थी?

महाराज – अवश्य ही, गोपाल की माँ को यह ज्ञान था कि जगत की सभी वस्तुयें सब कुछ अस्वीकार्य, असार हैं, और एकमात्र गोपाल ही स्वीकार्य, सार हैं। यह अनुभव होना, हृदय में बोध होना, इसी का नाम ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ केवल यह नहीं है कि गोपाल क्या है, उसे जानना। पर हमलोग तो गोपाल की माँ की तरह उच्च अधिकारी नहीं हैं। इसलिये हमलोगों को जानना पड़ेगा कि ईश्वर क्या है? तभी तो उनसे प्रेम होगा, तभी उनकी प्रसन्नता के लिये कार्य करने की इच्छा होगी, तभी उनके साथ सदा सम्बन्ध बना रहेगा। रामकृष्ण-लोक अन्यत्र कहाँ है? जहाँ सर्वदा श्रीरामकृष्ण की बातें होती रहती हैं, वहीं तो श्रीरामकृष्णलोक है।

सेवक – व्यासदेव को सही ज्ञान है कि वे देह, मन, और बुद्धि के द्रष्टा हैं। यदि उनके 'मैं' से पृथक बुद्धि का बोध हुआ, तो वे बुद्धि के सहयोग के बिना ही कैसे खा लिये?

महाराज – तब 'मैं' द्रष्टा है। 'मैं' का प्रारब्ध अतीत के संवेग में होता है। यह क्या है, इसे कहकर नहीं समझाया जा सकता है। मेरे द्रष्टा रूप में विद्यमान रहने पर ही कार्य सम्भव है। शरीर के चले जाने पर सामान्यतम सम्बन्ध भी (जो सम्बन्ध प्रतीत होता है) चला जाता है। ❖ **(क्रमश:)** ❖

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (२८)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। वे मठ के मन्दिर में पूजा भी किया करते थे। बँगला भाषा में हुई उनकी धर्म-चर्चाओं को स्वामी ओंकारेश्वरानन्द लिपिबद्ध कर लेते थे और बाद में उन्हें ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित भी कराया था। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लाभार्थ उसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

तृतीय परिच्छेद

आज मंगलवार, ११ ज्येष्ठ, १३२१ बंगाब्द (१९१४ ई. का मध्यकाल) है। मातृभक्त बाबूराम महाराज अपने मालदा जाने के विषय में परमाराध्या श्रीमाँ की अनुमति लेने के लिए आज प्रात:काल बागबाजार के मातृ-मन्दिर में आये हैं। साथ में मालदा के भक्त और एक ब्रह्मचारी भी हैं। मन्दिर के 'द्वारी' मातृगतप्राण माँ के निष्ठावान सेवक स्वामी सारदानन्द जी के साथ नीचे के छोटे कमरे में थोड़ी देर बातें करने के बाद बाबूराम महाराज ने ऊपर जाकर माँ के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बैठ गये। माँ अपने तख्त से पाँव लटकाए बैठकर महाराज के साथ बातचीत कर रही हैं –

श्री माँ – कैसे हो बाबूराम?

बाबूराम महाराज – अब अच्छा ही हूँ, माँ!

श्री माँ – मठ में सब कुशल से हैं न?

बाबूराम महाराज – मठ में सभी ठीक हैं, माँ!

श्री माँ – और क्या समाचार है?

बाबूराम महाराज – माँ, मैं तो मूर्ख आदमी हूँ। मुझे लेकर सभी खींचतान करते हैं। (वीरेश्वर की ओर इंगित करते हुए) ये लोग मालदा से आये हैं। वहाँ ठाकुर का उत्सव होगा, ये लोग मुझे वहाँ ले जाना चाहते हैं।

श्री माँ – वह तो बड़ा दूर है। इधर तुम्हारी तबीयत भी तो खराब हुई थी?

बाबूराम महाराज – हाँ, बारह-चौदह दिनों पूर्व एक बार बुखार हुआ था।

श्री माँ – तो फिर इस गर्मी के बीच और एक बार बीमार भी पड़ गये थे! इतनी दूर न जाना ही ठीक होगा।

बाबूराम महाराज – ठीक है, माँ। अच्छा है, अच्छा है।

महाराज को देखकर लगा मानो माँ ने उनकी इच्छानुरूप ही आदेश दिया है और वे अत्यन्त आनन्दित हैं। कैसे अद्‌भुत व्यक्ति हैं! मालदा जाने के विषय में महाराज ने कभी किसी तरह की अनिच्छा नहीं दिखायी, तथापि श्री माँ ने जब मना किया, तो उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। माँ के इस आदेश पर मानो वे बड़े आनन्दित होकर ही नीचे उतरे।

साधु महापुरुषों के चरित्र में विपरीत भावों का कैसा अद्‌भुत सामंजस्य होता है! कहाँ तो उन्होंने कहा था – 'सोच रहा था कि तुम लोगों ने मुझे बुलाया नहीं'; और कहाँ श्री माँ के 'न जाना ही ठीक रहेगा' कहने पर उनका 'ठीक है, ठीक है' कहते हुए आनन्दपूर्वक नीचे उतर आना!

इधर वीरेश्वर के मन की जो हालत हुई, उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता। थोड़ी देर वे किंकर्तव्यविमूढ़ रहे, बाद में उन्होंने साहस जुटाकर माँ के समक्ष सारी बातें निवेदित कीं।

वीरेश्वर – माँ, पिछले डेढ़-दो महीनों से मालदा में श्रीठाकुर के उत्सव की तैयारी चल रही है। सबका बहुत दिनों से संकल्प है कि पूजनीय बाबूराम महाराज को ले जाकर यह उत्सव करेंगे। उनके न जाने पर हजारों लोग निराश होंगे, आयोजकगण हताश हो जायेंगे। मालदा अधिक दूर नहीं है, माँ। रात को खा-पीकर रवाना होने से, अगले दिन दोपहर में वहाँ पहुँचकर भोजन आदि किया जा सकता है। मार्ग में कोई कष्ट नहीं होगा। ऐसा निर्धारित किया गया है कि उन्हें प्रथम या द्वितीय श्रेणी के डिब्बे में अच्छी व्यवस्था के साथ ले जायेंगे। आपके अनुमति न देने से उत्सव बरबाद हो जायगा। अधिक नहीं, तो कम-से-कम कुछ दिनों के लिए अनुमति न देने से सब कुछ मिट्टी में मिल जायगा। सभी लोग कितनी आशा लगाये बैठे हैं!

माँ – कहते हो, वह जगह दूर नहीं है। इतना पास है क्या?

एक ब्रह्मचारी – मालदा, जहाँ से बड़े बड़े फजली आम आते हैं, माँ।

माँ – हाँ, वह तो बहुत दूर नहीं है।

वीरेश्वर – हाँ, माँ, बिल्कुल भी दूर नहीं है। रात को दस बजे निकलने से अगले दिन दोपहर को वहाँ पहुँचा जा सकता है। बाबूराम महाराज को कोई असुविधा न हो, हम लोग वैसे ही ले जायेंगे, माँ। आप अनुमति दे दीजिए।

माँ – अच्छा, बेटा, तुम लोग थोड़ा जाओ। मुझे थोड़ी देर सोचने दो।

ब्रह्मचारी दूसरे कमरे में चले गये। वीरेश्वर नीचे उतर आये और माँ मन्दिर में अकेली ही रह गयीं।

थोड़ी देर बाद ब्रह्मचारी नीचे आकर बोले, ''माँ बाबूराम महाराज को बुला रही हैं। उन्हें बता दो।''

बाबूराम महाराज को सूचित करने पर वे तत्काल पुन: माँ से मिलने चले गये। वीरेश्वर ने भी उनका अनुसरण किया।

बाबूराम महाराज मन्दिर में प्रविष्ट होकर खड़े हो गये। वीरेश्वर भी दूसरे छोर पर खड़े हो गये।

श्री माँ – बाबूराम ! ये लोग इतना कह रहे हैं। तो क्या तुम जाओगे?

बाबूराम महाराज – मैं क्या जानूँ, माँ? मैं क्या जानूँ? आप जो आदेश देंगी, वही करूँगा। पानी में कूदने को कहें, तो पानी में कूद जाऊँगा; आग में कूदने को कहें, तो आग में कूद जाऊँगा; पाताल में प्रवेश करने को कहें, तो पाताल में प्रवेश करूँगा। मैं क्या जानूँ? आपका जो आदेश हो !

ये बातें बाबूराम महाराज ने इतने भावावेग में कहीं कि थोड़ी देर के लिए सभी स्तब्ध रह गये। बाबूराम महाराज के नेत्र-मुख आदि सब आरक्त हो उठे थे। कुछ काल के लिए सभी लोग एक अद्भुत भाव में विमुग्ध रहे। माँ भी कुछ काल मौन रहीं। वह एक अद्भुत दृश्य था, जिसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

माँ – ये लोग श्रीठाकुर का उत्सव कर रहे हैं, इतना कह रहे हैं, एक बार हो आओ। परन्तु अधिक दिन मत ठहरना।

माँ की यह बात सुनने के कुछ काल बाद ही बाबूराम महाराज उनकी चरणधूलि लेकर नीचे उतरे। वीरेश्वर भी माँ को प्रणाम कर उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

इस पर ब्रह्मचारी ने वीरेश्वर को बुलाकर कहा, "अजी, तुम्हें माँ बुला रही हैं, थोड़ा सुनते जाओ।"

वीरेश्वर फिर से मन्दिर में जाकर खड़े हो गये।

माँ (भक्त से) – "देखो, ये लोग महापुरुष हैं। इनका शरीर जगत् के कल्याण के लिए है। देखना, इनके शरीर पर कोई अत्याचार न हो।"

वीरेश्वर – "माँ, यहाँ से प्रथम या द्वितीय श्रेणी का बर्थ आरक्षित कराकर महाराज को ले जाऊँगा। साथ में विभिन्न प्रकार के खाद्यपदार्थ भी रहेंगे। वहाँ भी अच्छी व्यवस्था की गयी है। हम लोग जी-जान से प्रयास करेंगे कि महाराज को किसी प्रकार की असुविधा न हो। आप चिन्ता न करें, माँ। इस विषय में मेरा पूरा ध्यान रहेगा।"

नीचे बाबूराम महाराज ढाका इंजीनियरिंग कॉलेज के प्राध्यापक, त्यागी भक्त तथा कर्मी प्रफुल्ल बन्द्योपाध्याय के साथ वार्तालाप कर रहे थे।

प्रफुल्ल बाबू एक पुराने भक्त और निष्ठावान उत्साही कर्मी हैं। उनका घर ढाका में है। सभी पुराने संन्यासियों का उनसे थोड़ा-बहुत लगाव है। उनका त्याग, भक्ति तथा कर्ममय जीवन समस्त गृहस्थों के लिए अनुकरणीय है।

बाबूराम महाराज दो-तीन दिनों के भीतर ही मालदा के उत्सव में जा रहे हैं, यह बताने के बाद उन्होंने पूछा, "प्रफुल्ल, तुम भी जाओगे क्या? वहाँ बहुत-से नये भक्त देखने को मिलेंगे, खूब आनन्द होगा !"

प्रफुल्ल बाबू भी बड़े आग्रहपूर्वक जाने को राजी हुए।

चतुर्थ परिच्छेद

पूजनीय बाबूराम महाराज वीरेश्वर को साथ लेकर मायेरबाड़ी से बलराम-मन्दिर आये। गंगाधर महाराज (स्वामी अखण्डानन्द) वहीं ठहरे हुए थे और बाबूराम महाराज उन्हें बेलूड़ मठ ले जाना चाहते थे।

बलराम-मन्दिर कलकत्ते में ठाकुर का प्रधान किला है। ठाकुर कहा करते थे कि बलराम का अन्न बड़ा शुद्ध है। रामकृष्ण बाबू उनके सुयोग्य पुत्र हैं। वे भी ठाकुर के परम भक्त हैं। साधुसेवा में, पिता के ही समान उनके हाथ तथा द्वार सदैव उन्मुक्त रहा करते हैं।

बाबूराम महाराज (गंगाधर महाराज के प्रति) – कैसे हो?

गंगाधर महाराज – और कैसा रहूँगा, दादा ! औषध-पथ्य चल रहा है, ऐसे ही एक तरह से चल रहा है।

बाबूराम महाराज – तुम इतने दिनों से यहाँ आये हुए हो, एक बार मठ क्यों नहीं गये? स्वामीजी मठ बना गये और तुम कलकत्ते आकर भी मठ नहीं गये?

गंगाधर महाराज – माँ चिकित्सा के लिए जबरन मुझे सारगाछी से खींचकर यहाँ लायी हैं। वैद्य की दवा चल रही है। यहाँ पर मैं नियमानुसार औषध ले रहा हूँ, पथ्य कर रहा हूँ। इस समय कहीं जाने से माँ डाटेंगी। तुम लोग तो वैरागी हो, वहाँ मेरे पथ्य की व्यवस्था कर सकोगे क्या? (हास्य)

बाबूराम महाराज – अच्छा चलो, देखना कि मैं तुम्हारा पथ्य दे सकूँगा या नहीं।

गंगाधर महाराज – इस समय कहीं जाने से, माँ को पता चलने पर वे डाँटेंगी। शरीर थोड़ा ठीक होने दो न !

परन्तु बाबूराम महाराज किसी भी हालत में छोड़ने को तैयार न थे। उन्हें साथ लेकर वे गाड़ी में सवार हुए और वराहनगर के कूठीघाट से नाव द्वारा बेलूड़ मठ पहुँचे।

शाम को बाबूराम महाराज गंगाधर महाराज को साथ लिये स्वामी विवेकानन्द के समाधि-मन्दिर के पास बिल्ववृक्ष के नीचे टहलने आ पहुँचे। पेड़ के नीचे कई बेल पड़े हुए थे। एक एक कर बेलों को उठाते हुए, वे गाने लगे, "(भावार्थ) चलो मन, काली-कल्पतरु के नीचे घूमने चलें; वहाँ धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष – चारों फल तुम्हें पड़े हुए मिल जायेंगे।" वे बेल का एक फल गंगाधर महाराज के हाथ में देकर बोले, "क्यों, एक मिला?" फिर एक और बेल उनके हाथ में देकर बोले, "दो मिले?" देखकर लगा मानो दोनों गुरुभाई बड़े आनन्दपूर्वक खेल कर रहे हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

माँ की बातें

मन्दाकिनी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं । उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं । बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने । – सं.)

(माँ की जीवनी में 'नवासन की बहू' नाम से उनकी एक सेविका का उल्लेख आया है, उनका वास्तविक नाम मन्दाकिनी राय था । – सम्पादक)

माँ को तो पहले कभी देखा नहीं और उनके बारे में कुछ जानती भी नहीं थी । विवाह के तत्काल बाद पति की मृत्यु हो गयी । उसके बाद मैं ससुराल (नवासन) से अपनी माँ के पास अपने मायके मथुरा चली आयी । कुछ दिनों बाद पुन: अपनी माँ के साथ नवासन के अपने ससुराल में आयी । मैं भलीभाँति जानती थी कि ससुराल में रहने में दिक्कतें आयेंगी, परन्तु पितृगृह में रहूँ – इसके लिये भी मन राजी नहीं हो रहा था। क्योंकि उनकी आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी । नवासन में चैटर्जी परिवार की बूढ़ी-माँ के मुख से मैंने पहली बार माँ के बारे में सुना और एक दिन उनके साथ ही मैं तथा मेरी माँ ने जयरामबाटी जाकर माँ का दर्शन किया । प्रणाम करके उठते ही माँ कहने लगीं, "बेटी, चिन्ता की क्या बात? मैं हूँ न ! यदि वहाँ रहने में असुविधा हो, तो मेरे पास चली आना ।" माँ के मुख से यह बात सुनकर मैं आनन्द से विभोर हो उठी । मैंने माँ से कुछ कहा नहीं, परन्तु वे मेरे मन की बात समझ गयी हैं – यह जानकर मैं विस्मित रह गयी ।

माँ के प्रथम दर्शन के दो-एक महीने बाद ही मैंने उनकी अस्वस्थता की बात सुनी । सुना कि वे कोआलपाड़ा में हैं । उस समय मेरी माँ कौतुकबाला मेरे पास नवासन में ही थीं । माँ की अवस्था की बात सुनकर हम माँ-बेटी दोनों कोआलपाड़ा गयीं । वहाँ माँ की अवस्था देखकर मेरी माँ बोली, "मन्दा, तू कुछ दिन माँ के पास ठहर जा, यहाँ लोगों का बहुत आना-जाना है, (केदारबाबू की माँ) अकेले कैसे सब कुछ सँभालेंगी?" मेरी माँ की बात सुनकर श्रीमाँ बिस्तर से ही बोलीं, "बहू, तुम्हारी माँ जो कह रही है, वही करो ।" अब मेरे लिये कुछ कहने को बाकी नहीं रहा । उनके आदेशानुसार मैं उन्हीं के पास रह गयी । माँ ने कृपा करके उसी दिन से मुझे अपने चरणों में स्थान दिया । कुछ दिन बाद माँ स्वस्थ हो उठीं । अब मुझे चिन्ता हुई कि माँ कहीं अब यह न कहें कि 'बहू, अब थोड़ा ससुराल घूम आओ ।" कभी-कभी अपने आप ही मन में आता कि माँ से पूछूँ कि 'अब क्या मैं नवासन लौट जाऊँ?' परन्तु मैं जितनी भी बार पूछने गयी, उतनी बार माँ कोई दूसरी बात उठाकर किसी काम में लगा देतीं । इसी प्रकार कुछ दिन बीते । एक दिन माँ बोलीं, "बहू, एक बार तुम माँ के पास मथुरा घूम आओ । वहाँ भाभियाँ तो हैं ही । लौटते समय नवासन में भी एक रात बिता आना ।" माँ के निर्देशानुसार कुछ दिन घूम आयी । मैं जब माँ के पास रहती, तो बीच-बीच में मेरी माँ भी आकर उनके पास रहतीं । माँ उन्हें कपड़े आदि देतीं । उनकी बीमारी के समय माँ ने उन्हें कोआलपाड़ा लाकर चिकित्सा की व्यवस्था भी की थी ।

माँ के स्वस्थ होने के बाद जब शरत् महाराज ने यह निश्चय किया कि वे उन्हें कलकत्ते ले जायेंगे, तब यह सुना गया कि उनकी भतीजियाँ भी जायेंगी । लेकिन माँ क्या मुझे भी ले जायेंगी? मेरी तो जाने की प्रबल इच्छा थी । मैं ऐसा सोच ही रही थी, तभी माँ ने स्वयं कहा, "ओ बहू, तुम कपड़े आदि रख लो । तुम्हारे साथ न जाने से मैं इन कच्चों-बच्चों को कैसे सँभालूँगी? मेरा स्वास्थ्य तो देख ही रही हो ।" माँ की बात सुनकर मेरी आँखों से आँसू निकल आये । समझ गयी – माँ हमारे अन्तर-मन की सारी बातें जानती हैं ! कलकत्ता में मैं माँ के कपड़े आदि धो देना, उनके नहाने का पानी गरम कर देना, उनके नाखून काट देना आदि कई काम करती । माँ के पास रहते-रहते मानो मैं भी उनकी एक भतीजी ही हो गयी थी । यद्यपि नलिनी के साथ कभी-कभी खूब झगड़ा होता, लेकिन फिर प्रेम भी हो जाता ।

मेरी माँ की दीक्षा बड़े अकल्पनीय ढंग से हुई । एक बार वे जयरामबाटी आयीं । दिन भर रहकर शाम को घर लौटना था । साथ में गाँव के और भी दो-एक लोग आये थे । सहसा श्रीमाँ बोलीं, "तुम हाथ-पैर धोकर मेरे कमरे में आओ ।" मेरी माँ बिना कुछ समझे उनके आदेशानुसार उनके कमरे में घुसीं । माँ ने उनके शरीर पर गंगाजल छिड़कर उनके कान में महामंत्र प्रदान किया । श्रीमाँ को प्रणाम कर उनके चरणों में एक रुपया निवेदित कर माँ बोली, "माँ, तुमने मेरे जीवन की एक बहुत बड़ी साध पूरी कर दी !" सचमुच, यदि माँ उस समय उन्हें दीक्षा न देतीं, तो फिर उनकी दीक्षा ही नहीं हो पाती, क्योंकि इसके बाद ही मेरी माँ बीमार पड़ीं और उनकी मृत्यु हो गयी ।

मेरी दीक्षा भी कुछ इसी प्रकार हुई। उस बार (१९१९ ई. में) पूजा के समय श्रीमाँ जयरामबाटी में थीं। महाष्टमी के दिन सुबह भक्तगण आ-आकर माँ के श्रीचरणों में पुष्पांजलि दे रहे थे। माँ मुझे ऐसे ही कार्यों में लगातीं, जिससे मैं उनके आस-पास ही रहूँ। सहसा वे लोगों को हटाकर मुझसे बोलीं, "बहू, तुम जरा जल्दी से आओ तो !" मैं भागकर उनके पास पहुँची। उन्होंने मुझसे अपने पास के आसन पर बैठने को कहा। पास बैठने के बाद उन्होंने मुझे इष्टमंत्र प्रदान किया। दीक्षा के लिये मेरे मन में कोई आग्रह नहीं था। माँ ने ही उपयुक्त समय जानकर कृपापूर्वक महामंत्र प्रदान करके मुझे कृतार्थ किया था।

माँ की स्मृतियाँ

मुकुलबाला देवी

परम आराध्या श्रीमाँ की अपनी पवित्र स्मृतियों के विषय में मुझसे कुछ लिखने का अनुरोध किया गया है। मैं एक अति सामान्य नारी हूँ। माँ के बारे में भला क्या लिखूँगी ! मैं उन्हें जानती ही कितना हूँ, उनके अपार माहात्म्य का कण मात्र भी जानने की मुझमें क्षमता नहीं है। निश्चय ही मुझे माँ के दर्शन का कई बार सौभाग्य मिला, पर उसमें मेरी अपनी कोई योग्यता नहीं थी। माँ ही अहैतुक स्नेह की अपार सागर हैं ! उन्होंने अपनी अयाचित कृपा से मुझे अजस्त्र स्नेह से निहाल किया है। पर उनके इस देवदुर्लभ सान्निध्य की क्या महिमा है, यह मैं आज भी नहीं समझ सकी हूँ। बस, माँ की वह स्नेह-करुणामयी आनन्दमूर्ति को याद करके, उनके अयाचित स्नेह तथा करुणा का स्मरण करके आज भी मेरा हृदय एक अज्ञात आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। दोनों नेत्र छलछला उठते हैं।

मेरा परिचय – ठाकुर के साक्षात् कृपाप्राप्त प्रिय शिष्य, वराहनगर निवासी भवनाथ चट्टोपाध्याय मेरे नाना थे। उनकी इकलौती पुत्री प्रतिमा देवी मेरी माँ है। मेरी नानी किरणशशी देवी अन्तिम दिनों में मेरे पिता के पास ही रहती थीं। नानी कभी-कभी बागबाजार के 'उद्बोधन'-भवन में जातीं और वहाँ दो-एक दिन श्रीमाँ के पास रहतीं। नानी जिन दिनों बागबाजार जाती, उन दिनों मेरी आयु बहुत कम थी, बल्कि शिशु कहना ही ठीक रहेगा। तब मैं केवल पाँच वर्ष की थी। मेरी उस नन्हीं-सी उम्र में ही नानी एक दिन मुझे बागबाजार में स्थित 'उद्बोधन'-भवन में ले गयी थीं। उस शैशवावस्था में ही मैंने अपनी आराध्या देवी श्रीमाँ का प्रथम दर्शन किया।

मैंने जब माँ का प्रथम दर्शन किया, वह कौन-सा वर्ष था – यह तो मुझे ठीक से याद नहीं, तो भी इतना तो मैं बता ही सकती हूँ कि उद्बोधन का मकान दो-तीन वर्ष पहले ही बना था और माँ तभी से वहाँ निवास कर रही थीं।

माँ के प्रथम दर्शन की जो स्मृति मेरे मन में है, उस विषय में मुझे जो कुछ याद है, यहाँ वही बता रही हूँ।

जब मैं मात्र पाँच वर्ष की थी, तभी एक दिन मैं अपने घर में किसी बात पर बहुत जिद करके खूब रोने लगी। रोने का वह सिलसिला लगातार तीन दिनों तक जारी रहा, थमने का नाम ही नहीं ले रहा था ! इस पर घर के सभी लोग बड़े चिन्तित हुए। अभिभावकों को लगा कि मुझे कोई गम्भीर रोग हो गया है। एक-एक कर डॉक्टर, ओझा आदि सभी बुलाये गये, परन्तु उससे कोई लाभ नहीं हुआ। कोई भी मेरी रुलाई नहीं रोक सका। न जाने क्या सोचकर मेरी नानी अन्ततः मुझे माँ के पास ले गयीं। मैं माँ की गोद में जाकर और उनके मुख का पान खाकर उनकी शान्तिमयी गोद में आराम से सो गयी थी। मेरा रोना अचानक ही न जाने कहाँ चला गया ! क्षण भर में ही मेरी वह गम्भीर बीमारी दूर हो गयी। बाद में नानी के मुँह से सुना है – माँ ने उन्हें बताया था, "इसे कोई बीमारी नहीं है। यह मेरे पास आने के लिये रो रही थी।" उस दिन मैंने वहाँ खिचड़ी प्रसाद खाया था। नानी के साथ दो दिन माँ के पास रहने के बाद मैं घर लौट आई।

इसके बाद बीच-बीच में मैं नानी के साथ श्रीमाँ के पास जाती। उस समय मैं बड़ी कम आयु की बालिका थी। उस उम्र में धर्म के विषय में जानने की इच्छा भला रहती ही कहाँ है? माँ का दर्शन करने जाने में खाने-पीने का लोभ ही अधिक रहता। इतनी छोटी बच्ची माँ की बातें (उपदेश) भला क्या सुनती ! याद आता है – एक दिन माँ पूजा में बैठी हुई थीं। मैं भी पूजाघर के चौखट पर सिर टिका कर बैठी थी, लेकिन मेरी नजर (पूजा के) फल-मिठाइयों पर थी। माँ सहसा उठकर आयीं और मेरे हाथ में कुछ फल-बताशे दे दिये। इसके बाद वे मेरी ओर देखकर हँसते हुए बोलीं, "ठाकुर से पहले ही खा लिया !" इसके बाद से माँ जब भी मुझे कुछ खाने को देतीं, तो मैं तत्काल पूछ लेती, "तुम्हारे ठाकुर ने खा लिया है न !"

मैं पहले ही बता चुकी हूँ कि मेरी आयु बहुत कम थी। उस आयु में आचार-विचार कुछ नहीं जानती थी। माँ से बातें करते समय मैं उन्हें 'तुम' कहकर ही सम्बोधित करती। माँ को इस प्रकार 'तुम' कहते देख कई लोग मुझे मना करते। कई लोग मुझे सावधान भी कर देते कि कहीं इससे मेरा कोई अमंगल न हो ! माँ उनकी वह आपत्ति जताने वाली बातें सुन लेतीं और उसके बाद उनसे हँसते हुए कहतीं, "बाद में नहीं कहेगी।" (अर्थात् आयु अधिक हो जाने पर मुझे 'तुम' कहकर सम्बोधित नहीं करेगी।)

इसके बाद दो-तीन वर्ष बीत गये। अब मैं थोड़ी बड़ी हो गयी थी। थोड़ी-बहुत समझ भी आ रही थी। अब माँ मुझे एक विषय में सावधान कर देतीं। कहतीं, "रानू ! तुम किसी

से कुछ आशा-अपेक्षा मत रखना। किसी से कुछ माँगना मत! केवल मानसिक सन्ताप के सिवा किसी से कुछ भी नहीं मिलेगा।'' बचपन में माँ के श्रीमुख से सुनी हुई इस बात की सत्यता – सारे जीवन के कठोर अनुभव के फलस्वरूप अब इस वृद्धावस्था में स्पष्ट रूप से समझ सकी हूँ और समझ पा रही हूँ। अब तक इस संसार में मैंने जब भी किसी से कुछ माँगा है, वह बिल्कुल ही नहीं मिला है। आज भी जब मैं किसी से कुछ माँगती हूँ, तो वह नहीं मिलता। उससे केवल मानसिक कष्ट ही मिलता है। यह माँगना केवल संसार की वस्तुओं के विषय में ही नहीं, बल्कि थोड़े-से स्नेह-प्रेम के विषय में भी है। इस संसार में किसी से जरा-सा स्नेह-प्रेम माँगने से, वह भी नहीं मिलता। सचमुच, इस संसार में सच्चे स्नेह-प्रेम का ही सर्वाधिक अभाव है। जीवन भर, विभिन्न परिस्थितियों में पड़कर देखा है – इस संसार में कोई भी दिल खोलकर प्रेम नहीं कर सकता। प्रेम किया था, तो केवल श्रीमाँ ने। माँ ने अपना सारा स्नेह पूरी तौर से खोलकर उड़ेल दिया था। इसीलिये अब मुझे श्रीमाँ के प्रति मान (प्रेमकोप) होता है। मैं मानपूर्वक उनसे कहती हूँ ''क्या तुम इच्छा मात्र से ही मेरा यह (अभाव) दूर नहीं कर सकती थी?'' आशा त्याग देना – क्या सहज बात है? इसीलिये अब भी जीवन के प्रत्यक्ष क्षण में मैं वह परीक्षा दे रही हूँ।

अब आई मेरी दीक्षा की शुभ घड़ी! जब मैं नौ वर्ष की थी, तभी एक दिन बागबाजार में माँ के पास गयी। माँ के कमरे में अनेक देवी-देवताओं के चित्र टँगे हुए थे। माँ ने मुझे एक-एक कर उन चित्रों को दिखाया। फिर उन देवी-देवताओं के चित्रों की ओर देखते हुए मुझसे पूछा, ''बोल तो, इनमें कौन अच्छा है? मैंने महादेव के चित्र को दिखाते हुए माँ से कहा, ''ये ही (देवता) अच्छे हैं।'' उसी दिन माँ ने मुझे मार्ग दिखा दिया। उसी दिन माँ से मेरी मंत्रदीक्षा हुई। माँ ने मुझे अपनी अभय गोद में आश्रय दिया।

१९१४ ई. में मेरी आयु दस वर्ष थी। उस नन्हीं-सी आयु में मेरी शादी हो गयी। विवाह के बाद ससुराल जाना पड़ा। तब से माँ के पास फिर नहीं आ सकी। मेरी ससुराल बड़ी कठिन जगह थी। घर की बहुओं को बड़े संकोचपूर्वक रहना पड़ता था। ससुराल के लोग बहुओं का कुछ भी करना पसन्द नहीं करते थे। सभी मामलों में बहुओं पर उनका कड़ा पहरा रहता था। उस समय के मेरी ससुराल के उस भयानक स्थान तथा परिवेश को पूरी तौर से एक जेलखाना ही कहा जा सकता है। मेरी ससुराल बागबाजार से काफी दूरी पर स्थित थी। १९२० ई. की २१ जुलाई के दिन माँ अपनी जागतिक लीला का संवरण करके अपने दिव्य धाम को चली गयीं। उस समय मुझे माँ के अन्तिम दर्शन का सुयोग भी नहीं मिला। ससुराल में रहकर इन कार्यों में भाग लेने का कोई सवाल ही नहीं था। उस सुदूर स्थान में ही मुझे माँ के देहत्याग का समाचार मिला। तब मेरे हृदय में कैसी वेदना उठी उसे किसको बताऊँ? मेरी वह पीड़ा, मेरी वह व्यथा केवल अन्तर्यामी प्रभु ही जानते हैं। प्राणों की सारी व्यथा बाहर निकलकर दोनों नेत्रों से अश्रुधार के रूप में बहने लगी। आज भी मन बेचैन हो जाता है। 'उद्बोधन'-भवन में माँ के कमरे में जाने पर लगता है – माँ फिर पहले के ही समान बैठें और मैं उनकी गोद में कूद पड़ूँ। माँ के अदर्शन से जो कष्ट होता है, उसे मैं कहकर नहीं समझा सकती। मैं जानती हूँ कि श्रीमाँ प्रति क्षण हम लोगों के साथ-साथ ही हैं, वे कभी हमें भूला नहीं सकतीं। तो भी प्राण चाहते हैं कि वे पुन: हमारे बीच उसी प्रकार आ जायँ और मैं अपने दोनों नेत्रों से जी भरकर पुन: उनकी वही करुणामय आनन्दमूर्ति देख सकूँ!

माँ के समस्त शिष्यों से और जिन लोगों को ठाकुर की साक्षात् कृपा मिली है, उन सभी भक्तों से मेरी यही प्रार्थना है – अन्तिम समय मुझे माँ की अभय गोद प्राप्त हो। माँ के 'चरण' मैं नहीं समझती हूँ, क्योंकि मैं जब भी माँ के पास गयी हूँ, उन्होंने दोनों हाथ बढ़ाकर प्रसन्नतापूर्वक मुझे पुकारा है – ''आ जा!'' मैं दौड़ते हुए जाकर माँ की गोद में लेट गयी हूँ। उनकी कैसी करुणा, कितनी दया, कितना स्नेह देखने को मिला है! माँ! माँ! दयामयी माँ! सचमुच ही, माँ के बारे में सोचते-सोचते मुझे न जाने क्या हो जाता है! स्वयं को सँभाल नहीं पाती!

आज केवल यही बात बारम्बार याद आ रही है – माँ को इतना निकट पाकर भी मैंने क्यों नहीं उन्हें और अधिक अपना बना लिया? क्यों नहीं मैंने उन्हें और भी अच्छी तरह पाने का प्रयास किया? कैसी मूर्ख थी मैं! हाय, इतना करीब से पाकर भी मैं उन्हें असावधानी-वश खो बैठी हूँ!

माँ के बारे में सारी बातें नहीं बतायी जा सकतीं। जो बातें भक्ति के साथ गोपनीयता से हृदय में छिपाकर रखने की हैं, उन्हें बाहर प्रकट करना उचित नहीं। वह परम पवित्र सम्पदा मेरे अन्तर में सर्वदा गोपन ही रहे। यहाँ केवल एक बात और कहकर मैं अपनी स्मृतिकथा समाप्त करती हूँ।

बचपन में ही एक दिन मैं बागबाजार में माँ के पास बैठी थी। इधर-उधर की बातें करते हुए माँ ने सहसा पूछा, ''तू मुझसे कितना प्रेम करती है?'' मैंने अपने दोनों नन्हें हाथों को यथासाध्य फैलाकर माँ की ओर देखते हुए हँस-हँसकर कहा था, ''इ...त...ना।'' वह बात सुनकर माँ ने मुझे दुलार करते हुए कहा था, ''इसी प्रकार सबसे प्रेम करना। कभी किसी के लिए भी तुम्हारा प्रेम इससे जरा भी कम न हो।''*

❖ **(क्रमश:)** ❖

* विश्ववाणी, वर्ष १७, अंक ८, आश्विन १३६२, पृ. ३८५-३८८

अपनी ही तरह दूसरों के साथ बर्ताव करें

जियाउर रहमान जाफ़री

मध्यकालीन कवि तुलसी ने अपने मन, वचन या कर्म से किसी को पीड़ा पहुँचाने को सबसे बड़ा पाप कहा था। हमारे धर्मशास्त्र में कहा गया है कि जिस बर्ताव से हमें सुख मिलता है, उससे दूसरों को भी सुख मिलेगा और जिस बर्ताव से हमें कष्ट होता है, उससे दूसरों को भी कष्ट होगा। पद्मपुराण के एक श्लोक में कहा गया है – सुख चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह दूसरों को अपने ही समान समझे, क्योंकि सुख और दुख अपने-पराये दोनों के लिए समान होते हैं।

आज हम लोग जिस अलगाववाद, आतंकवाद और हिंसा के दौर से गुजर रहे हैं, उसके मूल में यही कारण है कि हमारा चारित्रिक पतन हो गया है और हम संवेदनशून्य हो गए हैं। अपने स्वार्थ और क्षणिक फायदे के लिए हम दूसरों को नुकसान पहुँचा रहे हैं, दूसरों की खुशी हमारी खुशी नहीं रह गई है, हममें मानवीयता खत्म हो गई है और उस पर पशुता हावी होने लगी है। किसी भी धर्म ने हिंसा के मार्ग को अपनाने की सीख नहीं दी। हम आज जो धार्मिक उन्माद देखते हैं, उसके तत्त्व धर्म में कहीं भी मौजूद नहीं हैं। बौद्ध और जैन पूर्णत: अहिंसक धर्म है। हिन्दू और इस्लाम मजहब की बुनियाद मानवता पर आधारित है। शास्त्रों में कहा गया है कि जो व्यक्ति परायी स्त्री को माता के समान, परधन को मिट्टी के ढेले के समान और सभी प्राणियों को अपने ही समान देखता है, वही वास्तव में सच्चा आत्मद्रष्टा है।

अतीत में हमारे समाज का बुनियादी ढाँचा सम्मान-सत्कार पर आधारित था। बच्चे बड़ों की इज्जत करते थे। माता-पिता को देवता की तरह समझा जाता था। बुजुर्गों की सलाह केबिना घर का कोई काम नहीं होता था। पर आज स्थितियाँ बिल्कुल बदल चुकी हैं। हम लोगों ने तस्करी, रिश्वतखोरी, हिंसा, अलगाव और उन्माद का रास्ता अपना लिया है।

एक बार एक व्यक्ति हजरत मुहम्मद साहब के साथ कब्रिस्तान से गुजर रहे थे। एक कब्र के पास रुक कर उन्होंने कहा – यह औरत बड़ी मुसीबत में है। हजरत साहब ने कहा – लेकिन अल्लाह के रसूल, यह बहुत इबादत गुजार थी, नमाज-रोजे की पाबन्द थी। आपने फरमाया – हाँ, लेकिन अपने पड़ोस के साथ उसका बर्ताव अच्छा नहीं था।

हम अगर दूसरों की तकलीफों को अपना दर्द समझने लगें, तो संसार स्वर्ग बन जाए। हमारे ऋषि, मुनि, सन्त और साधुओं का हृदय ऐसा ही था।

सन्त नामदेव जब बालक थे, तब एक बार उनकी माँ ने उनसे कहा – 'वत्स ! कुल्हाड़ी लो और पलाश की छाल छीलकर ले आओ। बालक नामदेव ने ऐसा ही किया। घर पहुँचकर यह जानने के लिये कि पेड़ के छीलने से उसे कष्ट हुआ होगा कि नहीं, बालक ने कुल्हाड़ी से अपना ही पैर छील लिया। उसे कष्ट का अनुभव हुआ। बच्चा सोचने लगा कि इस तरह तो मैंने पेड़ को बहुत कष्ट पहुँचाया।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि दूसरों का शोषण कर प्राप्त किया गया धन अन्तत: हमें हानि ही पहुँचाता है। जो सुख प्रेम, भाईचारा और ईमानदारी में है, वह कहीं और नहीं है। किसी को प्रेम देने से हमें भी प्रेम मिलता है। चाणक्य नीति है कि – जहाँ जल होता है, वहीं हंस बसते हैं, जब जल सूख जाता है, तब वे उस स्थान को त्याग देते हैं, परन्तु मनुष्य को हंस के समान संपन्नता-विपन्नता में बार-बार आने-जाने वाला स्वार्थी नहीं बनना चाहिये।

अपने बर्ताव के कारण ही कोई श्रीराम जैसा पूजनीय बन जाता है और कोई रावण की तरह घृणा का पात्र बन जाता है। राबर्ट बर्न्स का कथन अचूक है कि – मानव का मानव के प्रति अत्याचार असंख्य मनुष्यों को दुखी कर देता है।

हमारा बर्ताव यदि दूसरों के प्रति अच्छा होगा, तो यकीनन उसका व्यवहार भी बदलेगा। अंगुलीमाल जैसा भयंकर डाकू भी भगवान बुद्ध के व्यवहार से नतमस्तक हो जाता है। ईसा का यह कथन हमारा आदर्श वाक्य होना चाहिये – जैसे व्यवहार की तुम दूसरों से अपेक्षा रखते हो, वैसा ही व्यवहार तुम दूसरों के प्रति भी करो। पवित्र कुरआन के एक आयत का अर्थ है – वह तुम क्यों कहते हो, जो खुद नहीं करते।

महात्मा दक्ष बड़ा सुन्दर उपदेश देते हैं, ''सुख की इच्छा रखनेवाले पुरुष को चाहिये कि वह जैसे अपने आपको सुखी देखना चाहता है, वैसे ही दूसरों को भी देखे।''

कहना न होगा कि आदमी के अच्छे बर्ताव की महत्ता सभी स्वीकारते हैं। हमारी बोली मीठी, चरित्र बेदाग और बर्ताव अच्छा होगा, तो कोई कारण नहीं है कि लोग हमें सम्मान न दें। ❑ ❑ ❑

उत्तर भारत के तीर्थों में स्वामीजी

स्वामी विदेहात्मानन्द

वाराणसी से लौटने के बाद स्वामीजी ने कुछ समय (करीब छह महीने) वराहनगर मठ में रहते हुए स्वाध्याय, धर्मचर्चा तथा ध्यान-धारणा में कालयापन किया। परन्तु उनके वैराग्य-दीप्त मन में सदैव किसी निर्जन स्थान में जाकर ध्यान में तल्लीन हो जाने की आकांक्षा जाग्रत रहा करती थी। अत: १८८८ ई. के प्राय: मध्य में वे एक बार फिर उत्तर भारत के तीर्थों के दर्शनों की अभिलाषा के साथ एकाकी निकल पड़े।

वाराणसी में प्रमदादास मित्र से भेंट

इस बार भी वे सर्वप्रथम वाराणसी ही गये। वहाँ के एक धनाढ्य जमींदार तथा संस्कृत के विद्वान् श्री प्रमदादास मित्र के साथ गंगाधर महाराज (अखण्डानन्दजी) का पिछले वर्ष घनिष्ठ परिचय हो चुका था। मित्र महाशय उनके मुख से श्रीरामकृष्ण के अलौकिक जीवन के विषय में सुनकर उनके प्रति काफी आकृष्ट हुए थे। गंगाधर के पत्रों से वराहनगर के गुरुभाइयों को उनकी उदारता एवं विद्वत्ता के विषय में जानकारी मिल चुकी थी, अत: इस बार स्वामीजी ने वाराणसी पहुँचकर उन्हीं के यहाँ डेरा जमाया। मित्र महाशय के साथ स्वामीजी का यह परिचय क्रमश: श्रद्धा एवं स्नेह से समन्वित होकर प्रगाढ़ मित्रता में परिणत हुआ और आगामी दो वर्ष के दौरान दोनों के बीच काफी पत्र-व्यवहार चला। अगस्त १८८८ से जून १८९० के दौरान स्वामीजी ने उन्हें करीब ३२ पत्र लिखकर शास्त्रीय आधार पर धर्म, सामाजिक आचारों एवं प्रथाओं के सन्दर्भ में काफी चर्चा की। ये सभी पत्र 'विवेकानन्द साहित्य' के प्रथम खण्ड में मुद्रित हुए हैं। इस बार वे वाराणसी में ज्यादा दिन नहीं ठहरे और शीघ्र ही वहाँ से १२३ मील दूर सरयू नदी के तट पर स्थित अयोध्या की ओर चल पड़े।

अयोध्या का अवलोकन

श्रीरामचन्द्र के गुणगान से मुखरित प्राचीन राजधानी अयोध्या में आकर स्वामीजी ने श्रीरामचन्द्र के चरणरज से पवित्र दर्शनीय स्थानों का दर्शन किया। बचपन से ही रामायण की कथा उनको अत्यन्त प्रिय थी और एक समय वे श्री सीताराम की मूर्तियाँ लाकर प्रतिदिन उनकी पूजा भी किया करते थे। १८८६ ई. में काशीपुर में निवास के दौरान श्रीरामकृष्ण ने उन्हें उसी 'राम' मंत्र की दीक्षा भी दी थी, जो उन्हें अपने गुरु जटाधारी से मिला था। यह मंत्र पाकर नरेन्द्रनाथ की भावनाएँ उद्वेलित हो उठी थीं। शाम के समय वे उच्च स्वर में 'राम-राम' शब्द से चारों दिशाओं को मुखरित करते हुए बगीचे में उस भवन की परिक्रमा करने लगे। भावावेग से उनका बाह्य ज्ञान प्राय: लुप्त हो गया था; परन्तु हृदय में भावनाओं की आग धू-धूकर जल रही थी। रात ज्यों-ज्यों गहरी होने लगी, त्यों-त्यों उनका कठस्वर भी उच्चतर होने लगा। जब श्रीरामकृष्ण को इस बात की सूचना दी गयी, तो वे बोले, "ठीक है, करने दो। यथासमय वह शान्त हो जायेगा।" कुछ घण्टों बाद उनकी रामभक्ति के भाव की आँधी का वह वेग शान्त हो गया था और उनका मन सामान्य धरातल पर लौट आया था।

अयोध्या में आकर उनके मानस-पटल पर अतीत की असंख्य मधुर स्मृतियाँ उभर आयीं। वहाँ वे बड़ी श्रद्धा के साथ रामनाम का गान करते हुए द्वार-द्वार जाकर भिक्षाटन किया करते थे। अयोध्या के साधुओं से श्रीराम की लीलाओं तथा गुणगान को सुनकर उन्होंने विशेष आनन्द का उपभोग किया था। वहाँ वे बड़ी छावनी में स्थित बाबा रघुनाथदास के आश्रम में भी गये थे। इस प्रसंग में उनसे सुनकर भगिनी निवेदिता ने लिखा है, "स्वामीजी जब रघुनाथदास के आश्रम में पहुँचे, तो उसके दो माह पूर्व ही उक्त महापुरुष का देहत्याग हो चुका था। पहले वे ब्रिटिश सेना में काम करते थे और शिविर-रक्षक के कार्य में अच्छे और विश्वासी कर्मचारी के रूप में अधिकारियों के विशेष स्नेहभाजन थे। इसी प्रकार दिन बीत रहे थे। एक रात उन्होंने देखा कि एक टोली रामनाम-संकीर्तन करते हुए चली जा रही है। उसे सुनकर अपने कर्तव्य -पालन का यथासाध्य प्रयास करने पर भी 'बोलो, राजा रामचन्द्र की जय' – यह ध्वनि सुनते ही वे उन्मत्तप्राय हो उठे। अपने अस्त्र-शस्त्र तथा सैनिकों का वेश फेंककर वे संकीर्तन में शामिल हो गये।

"कुछ काल ऐसे ही बीतने के बाद आखिरकार कर्नल साहब के पास उनके नाम पर शिकायत हुई, कर्नल साहब ने रघुनाथदास को बुलवाया और पूछा कि क्या यह सारी खबर सत्य है और क्या इसकी सजा उन्हें ज्ञात है? रघुनाथदास ने उत्तर दिया – 'ज्ञात है, मुझे गोली मार दी जायेगी।' कर्नल ने कहा – 'देखो, इस बार तो तुम्हें क्षमा कर देता हूँ। जाओ, यह बात मैं किसी से कहूँगा नहीं, परन्तु यदि फिर ऐसा हो, तो तुम्हारी सजा अनिवार्य है।'

"उस रात फिर – रामनाम-संकीर्तन का दल कीर्तन करता हुआ चला जा रहा था। रघुनाथदास के कानों में उसकी ध्वनि आई और उन्होंने स्वयं को रोकने का यथासाध्य प्रयास किया, किन्तु वह आकर्षण अदम्य था। आखिरकार सब कुछ छोड़कर उन्होंने सारी रात संकीर्तन दल के साथ बिताई।

"इधर रघुनाथदास के ऊपर कर्नल की इतनी आस्था थी कि उन्हें अपने ही मुख से अपराध स्वीकार करते सुनकर भी, उनके विरुद्ध कुछ विश्वास कर पाना उनके लिये कठिन था।

---

१. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1979, Vol. I, p. 160; युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. १६९

अत: वस्तुस्थिति को अपनी आँखों से देखने के लिये वे रात के समय स्वयं ही शिविर में उपस्थित हुये। उन्होंने देखा कि रघुनाथ अपने स्थान पर खड़े हैं और उनके साथ उन्होंने यथारीति तीन बार संकेतों का आदान-प्रदान किया। कर्नल निश्चिन्त होकर अपने आवास पर लौटे और सो गये।

''प्रात:काल रघुनाथदास अपना अपराध स्वीकार करने, तथा अस्त्र-शस्त्र समर्पित करते हुये सजा ग्रहण करने के निमित्त कर्नल के पास उपस्थित हुये। परन्तु कर्नल ने उनकी बातें बिल्कुल नहीं सुनी। वे स्वयं ही जो देख और सुन आये थे, उसी का वर्णन करने लगे।

''विस्मय से हतबुद्धि रघुनाथदास कार्य से किसी प्रकार भी निवृत्ति पाने का हठ करने लगे। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जिन प्रभु श्रीरामचन्द्र ने अपने सेवक के लिये ऐसा किया हो, अब से वे उन्हें छोड़ अन्य किसी का दासत्व नहीं करेंगे।

''स्वामीजी बोले, 'वे सरस्वती (सरयू) नदी के तट पर वैरागी साधु का जीवन बिताने लगे। लोग उन्हें अज्ञानी समझते, पर मैं उनकी क्षमता से परिचित था। वे प्रतिदिन हजारों लोगों को खिलाते। किसी दिन गेहूँवाला आकर अपने पैसे माँगता, रघुनाथदास कहते, 'हूँ, ... कितने हजार रुपये? ठहरो तो देखूँ। कहाँ, महीने भर से तो कुछ रुपये-पैसे आये नहीं। लगता है रुपये कल आ जायेंगे।' रुपये ठीक उसी दिन आ जाते – उससे जरा भी अलग कुछ नहीं होता।''

''किसी ने रघुनाथदास से पूछा – 'रामनाम-संकीर्तन-दल वाली कहानी सच्ची है या नहीं।' उन्होंने उत्तर में कहा, 'यह सब बातें जानकर क्या लाभ?' प्रश्नकर्ता ने कहा, 'मैं केवल उत्सुकतावश नहीं पूछ रहा हूँ। मैं इतना ही जानना चाहता हूँ कि ऐसी घटना सम्भव है क्या?' रघुनाथदास ने उत्तर दिया, 'भगवान की इच्छा से सब सम्भव है'।''[२]

लखनऊ की झाँकी

अयोध्या के बाद स्वामीजी लखनऊ आये। वहाँ अवध के मुसलमान नवाबों द्वारा निर्मित उद्यानों, महलों, मस्जिदों आदि के स्थापत्य से अलंकृत नगरी ने उनके मन में इस्लामी शासनकाल की गौरवपूर्ण स्मृतियाँ जगाकर उन्हें अभिभूत कर दिया। लखनऊ से उन्होंने आगरा के लिये प्रस्थान किया।

आगरा और ताजमहल

आगरा काफी काल तक मुगल सम्राटों की राजधानी रही है। यहाँ आकर मुगलों की अक्षय कीर्ति के रूप में ताजमहल, आगरा का किला आदि की भव्यता तथा अपूर्व स्थापत्य कला का अवलोकन करके वे भावविभोर हो गये। किले के कमरों, सभागार, मस्जिद आदि को एक-एक कर देखते हुए वे मुगलों के गौरव की स्मृति में डूब गए।

ताजमहल के सौन्दर्य ने उन्हें विशेष रूप से अभिभूत किया। वे उसका अवलोकन करने कई बार गये, उसे विभिन्न दिशाओं तथा कोणों से, प्रकाश और छाया के विभिन्न पृष्ठभूमियों में देखा और सर्वोपरि अपने भारतप्रेम के परिप्रेक्ष्य में उसका सर्वांगीण अध्ययन किया। उसके सौन्दर्य को देखते हुए उनकी आँखें नम हो जातीं। उसकी कारीगरी का अध्ययन करते हुए उन्हें मानो तृप्ति ही नहीं मिलती। बारम्बार उनके मन में आता – भारत की शिल्प-कला एक दिन कैसी बुलंदियों तक पहुँची थी! वे कहते, ''इस अद्भुत भवन के हर इंच का धैर्यपूर्वक अध्ययन करने के लिये पूरे दिन का समय चाहिये और इसके सम्पूर्ण अध्ययन में कम-से-कम छह महीने तो लग ही जायेंगे।''[३]

बाद के दिनों में निवेदिता ने उनके मुख से इस विषय में जो सुना, उसे इन शब्दों में लिपिबद्ध किया है – ''कभी वे उल्लासपूर्वक भारतवर्ष या मुगलवंश के इतिहास का सार-संक्षेप प्रस्तुत करते। मुगलों की गरिमा का बखान करते वे कभी न थकते। इस पूरे ग्रीष्म ऋतु के दौरान वे प्राय: ही बीच-बीच में दिल्ली या आगरा के वर्णन में डूब जाते। एक बार उन्होंने ताजमहल का वर्णन करते हुए कहा था, 'क्षीण आलोक..., फिर और भी क्षीण आलोक... और वहाँ पर है एक समाधि!' एक अन्य समय उन्होंने शाहजहाँ के बारे में उत्साहपूर्वक कहा था, 'अहा! वे ही मुगलवंश के गौरव थे। उनका सौन्दर्यानुराग तथा सौन्दर्यबोध इतिहास में अनुपम है; और वे स्वयं भी एक कलाकार थे। मैंने उनके हाथ से चित्रित एक पाण्डुलिपि देखी है, जो भारत की कला-सम्पदा का अंग है। क्या ही प्रतिभा थी उनमें!'' अकबर की चर्चा तो वे और भी अधिक किया करते। आगरा के पास सिकन्दरा में स्थित उस गुम्बजहीन खुली समाधि का वर्णन करने के बाद अकबर के विषय में बोलते हुए उनका गला रुँध जाता था और उनकी अन्तर्निहित वेदना सहज ही समझी जा सकती थी।''[४]

ऐसा लगता है कि वे आगरे के ही समीप स्थित सम्राट् अकबर की राजधानी फतहपुर सिकरी भी अवश्य गये होंगे।

वृन्दावन के पथ पर – भंगी का चिलम

१८८८ ई. के अगस्त के पूर्वार्ध में वे पैदल ही आगरे से वृन्दावन की ओर चले जा रहे थे। इस सुदीर्घ रास्ते की ३० मील की दूरी उन्होंने पैदल ही तय की। इन दिनों वे अपने पास रुपये-पैसे बिल्कुल भी नहीं रखते, अयाचित भाव से जो कुछ भी मिल जाता, उसी से उदरपूर्ति करते। उनके

२. विवेक-ज्योति मासिक, वर्ष २००२ अंक ४ पृ. १७५-६; Complete Works of Sister Nivedita, Vol.1, 1972, Calcutta, Pp.131-33

३. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1979, Vol. I, p. 217; युगनायक विवेकानन्द, खण्ड १, पृ. २०७

४. स्वामी विवेकानन्द के साथ भ्रमण, भगिनी निवेदिता, प्र.सं., पृ. २४

हाथों में दण्ड-कमण्डलु और मात्र दो-एक पुस्तकें ही थीं। वृन्दावन पहुँचने में अब केवल दो मील का मार्ग बाकी रह गया था। वे नि:सम्बल खाली-पाँव चले जा रहे थे। सहसा उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति रास्ते के किनारे बैठा हुआ बड़े मजे से अपना चिलम मुख से लगाये धूम्रपान कर रहा है। स्वामीजी तब तक थककर चूर-चूर हो रहे थे। उन्होंने सोचा कि थोड़ा तम्बाकू पी लेने पर थोड़ी ताजगी का अनुभव होगा। अत: वे उस व्यक्ति के पास जाकर उसके चिलम से दो-एक कश पीने की भिक्षा माँगते हुए उन्होंने कहा, "बेटा, मेरे लिये जल्दी से एक चिलम भर दो।" उस व्यक्ति ने बड़े संकोचपूर्ण पीछे हटकर कहा, "महाराज, आप साधु हैं और मैं भंगी (मेहतर) हूँ।" स्वामीजी के भी मन में तब भी शायद कुछ कुलीनता के संस्कार तथा जाति का अभिमान शेष था। अत: वे पीछे हट गए और पुन: अपनी राह पकड़ी।

वे कुछ ही दूर आगे बढ़े होंगे कि चलते-चलते सहसा उनके पाँव ठिठक गये। उनके मन में आया – "अरे, मैंने तो संन्यास ले लिया है; जाति, कुल, मान आदि – सब छोड़ दिया है, तो भी मैं उसका छुआ हुआ तम्बाकू न पी सका! धिक्कार है मुझे! जीवन भर मैंने आत्मा के एकत्व – अभेदत्व पर ध्यान किया है और अब मैं भी कहाँ जातिवाद के चक्कर में आ फँसा! सचमुच ही अपने पूर्व संस्कारों पर विजय पा सकना कितना कठिन है!" ऐसा सोचकर उनका मन व्याकुल हो उठा। तब तक वे करीब दो फर्लांग रास्ता चल चुके थे, परन्तु फिर लौटकर उसी मेहतर की ओर लौट चले।

वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि वह तब भी यथावत् बैठा हुआ चिलम के रसास्वादन में मशगूल था। वे बोले, "बाबा, जल्दी से मुझे भी एक चिलम तम्बाकू पिलाओ।" उसने पुन: स्मरण दिलाया कि वह मेहतर है, पर अब उसकी बात भला कौन सुनता! हार कर उस व्यक्ति ने उसी चिलम में तम्बाकू भर दी और स्वामीजी उसे बड़े आनन्दपूर्वक पीने लगे।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने इस घटना को एक अति सुन्दर कविता में निबद्ध किया है, जो इस प्रकार है –

शिष्यों को कर शोकमग्न हो गए ब्रह्म में लीन
रामकृष्ण जो परम धर्म की मूर्ति, स्नेह के स्वर थे।
कुछ विषाद, कुछ बेचैनी, घबराहट से हो दीन
निकल पड़े सब शिष्य, साधना के निमित्त घर घर से।

उन शिष्यों के मुकुट वीरवर सन्त विवेकानन्द
नगर, ग्राम, वन, विजन, सभी स्थानों में घूम रहे थे।
प्रथम देश-दर्शन से पा प्रेरणा और आनन्द
देशभक्ति के भावों से पूरित हो झूम रहे थे।।

चलते चलते एक दिवस देखा कि खेत के पास
एक व्यक्ति ले चिलम मस्त होकर दम खींच रहा है;
फैलाता तम्बाकू का सब ओर महकता वास
घोंट रहा है धुआँ मग्न, कुछ आँखें मींच रहा है।

स्वामीजी ने कहा विरम कर – "भला करें भगवान।
जो सुख लूट रहे, वह क्या मुझको भी पाने दोगे?
तम्बाकू की खुशबू से मेरी भी है पहचान।
बन्धु, एक दम इस सुलफे में मुझे लगाने दोगे?"

तम्बाकू पीनेवाले ने कहा – "हाय, महराज!
पाप कमाकर भला जगत् में हम किस भाँति जिएँगे?
आप साधु हैं, लेकिन मेहतर कहता हमें समाज।
किस प्रकार फिर आप हमारी जूठी चिलम पिएँगे?"

यह उत्तर सुनकर आगे बढ़ गए विवेकानन्द।
पर तुरन्त लौटे अन्तर में गाँस कहीं पर खाकर।
"मूढ़ अभी तक भी बाकी है जात-पाँत का द्वन्द्व?
तू कायथ ही रहा शिखा कटवाकर, सूत्र जलाकर?"

चिलम छीनकर पी ली स्वामीजी ने आँखे मूँद।
खड़ा देखता रहा ठगा-सा वह मेहतर बेचारा।
टपकी दृग से उमड़ मौन आनन्द-जलधि की बूँद।
स्वामीजी ने और जोर से सुलफे में दम मारा।।[५]

बहुत दिन बाद गिरीश चन्द्र घोष ने स्वामीजी के मुख से यह घटना सुनने के बाद हँसी करते हुए कहा था, "अरे, तुम नशे के लिये इतने लालायित हो गए थे कि तुमने भंगी तक के चिलम को नहीं छोड़ा।" इसके उत्तर में स्वामीजी ने कहा था, "नहीं जी.सी, ऐसी बात नहीं है। सचमुच ही मुझे स्वयं की परीक्षा करके देखने की इच्छा हुई थी कि संन्यास लेने के बाद मेरे पूर्व-संस्कार दूर हुए हैं या नहीं, मैं जाति-भेद के पार जा सका हूँ या नहीं – यह सब परीक्षा कर देखना पड़ता है। सच्चे संन्यास के भाव को बनाए रखना बड़ा कठिन है – कथनी और करनी में कणमात्र भी अन्तर नहीं होना चाहिये।"[६]

उसी प्रसंग में एक बार उन्होंने कहा था, "तुम समझते हो कि जीवन में संन्यासी का आदर्श पालन करना बड़ा सहज है! जीवन में इतना कठिन पथ दूसरा कोई नहीं। सीधे पहाड़ के अन्तिम छोर पर खड़े होना है – जरा पैर फिसलते ही एकदम खड्ड में – सब चकनाचूर! संन्यास-व्रत लेने के बाद प्रतिक्षण आत्म-परीक्षण करके देखना पड़ता है कि जाति आदि के बन्धनों से मुक्त हुआ हूँ या नहीं। उस दिन मुझे यही शिक्षा मिली थी कि किसी को भी तुच्छ नहीं समझना चाहिये – सोचना होगा कि सभी भगवान के सन्तान हैं।"[७]

वृन्दावन के कालाबाबू-कुंज में

धूम्रपान समाप्त करने के बाद स्वामीजी ने पुन: अपनी

५. स्वामी विवेकानन्द का अवदान, कलकत्ता, सं. २००२, पृ. ४०३
६. स्वामी विवेकानन्द (बंगला), प्रमथनाथ बसु, भाग १, पृ. १४२
७. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, सं. १९९८, खण्ड १, पृ. २०८

वृन्दावन की राह पकड़ी । श्रीरामकृष्ण के परमभक्त श्री बलराम बोस के पूर्वजों ने वृन्दावन में श्रीकृष्ण के एक विग्रह तथा उससे संलग्न एक धर्मशाले की स्थापना कर रखी थी, जो 'कालाबाबू का कुंज' नाम से सुपरिचित हो गया था । वृन्दावन पहुँचकर स्वामीजी ने वहीं पर आश्रय लिया ।

श्रीरामकृष्ण की एक तपस्विनी भक्त गौरी-माँ भी उन दिनों वहीं कालाबाबू के कुंज में ही रहकर साधना कर रही थीं। एक दिन स्वामीजी सहसा वहाँ आ पहुँचे। आते ही बोले, "गौरी-माँ, जल्दी-से मुझे खाने को दो। बड़ी भूख लगी है ।" रात का समय था और गौरी-माँ के पास कोई भी खाद्य-सामग्री नहीं बची थी । वे बड़ी चिन्ता में पड़ीं – इतनी रात को खाने की चीज कहाँ मिलेगी ! और नहीं मिली, तो नरेन को रात भर भूखे ही रहना पड़ेगा। गौरी-माँ ने एक परिचित दुकानदार के घर जाकर गुहार लगायी । उसके बाहर आने पर वे बोलीं, "अपनी दुकान खोलकर कुछ दे दो, नहीं तो एक साधु भूखे रह जायेंगे ।" दुकानदार के देने पर स्वामीजी ने उसे खाकर अपनी भूख मिटायी ।[८]

वहाँ से पहला पत्र

वहाँ पहुँचकर १२ अगस्त, १८८८ को उन्होंने वाराणसी के प्रमदादास मित्र को एक पत्र में लिखा, "मान्यवर, अयोध्या से मैं वृन्दावन-धाम में आ गया हूँ और कालाबाबू के कुंज में ठहरा हूँ। शहर में मन संकुचित रहता है । सुना है, राधाकुण्ड आदि स्थान मनोरम हैं, परन्तु वे शहर से कुछ दूर हैं। मेरा विचार जल्दी ही हरिद्वार जाने का है। यदि आपकी वहाँ किसी से पहचान हो, तो कृपा करके आप एक परिचय-पत्र उसे लिख देंगे । आप यहाँ कब आ रहे हैं? कृपया शीघ्र उत्तर दीजियेगा। – दास, नरेन्द्रनाथ[९]

राधाकृष्ण-तत्त्व पर श्रीरामकृष्ण के विचार

स्वामी विवेकानन्द अपनी किशोरावस्था में पाश्चात्य भावों से प्रभावित होकर राधाकृष्ण-भाव से ईश्वर की उपासना के घोर विरोधी हो गये थे । एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण देव के समक्ष श्री राधाकृष्ण की वृन्दावन-लीला के ऐतिहासिकता के विषय में प्रश्नचिह्न लगाते हुए उसके मिथ्या होने का दोषारोपण किया था । इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, "अच्छा, मैं मान लेता हूँ कि श्रीराधा नाम की कोई गोपी कभी विद्यमान ही नहीं थीं – कि शायद किसी प्रेमी साधक ने राधा-चरित्र की कल्पना की हो । परन्तु इस बात को तो तुम मानोगे न कि उस चरित्र की कल्पना करते समय उस साधक को श्रीराधा-भाव में पूर्णत: तन्मय हो जाना पड़ा था ! तो उस समय उस साधक को अपने को भूलकर स्वयं राधा बन जाना और इस प्रकार वृन्दावन-लीला के अभिनय का स्थूल रूप से भी सम्पन्न होना स्वत: ही सिद्ध हो जाता है ।"[१०]

उन्होंने ब्राह्मभक्तों से कहा था, "राधाकृष्ण को मानो या न मानो, पर उनके आकर्षण को तो ग्रहण करो ! ईश्वर के लिए इस प्रकार की व्याकुलता हो, इसके लिए प्रयत्न करो । व्याकुलता के आते ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है ।"[११]

श्रीरामकृष्ण नरेन्द्र आदि से कहते – "वृन्दावन-लीला में श्रीकृष्ण के प्रति श्रीराधारानी के हृदय का जो आकर्षण था, उसे क्यों नहीं देखते, उसको देखो तथा यह अनुभव करो कि ईश्वर के प्रति उस प्रकार का आकर्षण होने पर, तब कहीं उनकी प्राप्ति होती है! यह देखो कि गोपियाँ पति-पुत्र, कुल-शील, मान-अपमान, घृणा-लज्जा, लोकभय आदि सब त्यागकर श्रीकृष्ण के निमित्त किस प्रकार उन्मत्त हो उठी थीं ! वैसा ही आचरण करने की जब सामर्थ्य होती है, तभी भगवान की प्राप्ति होती है ।" वे कहते – "काम-गन्ध-शून्य हुए बिना महा-भावमयी श्री राधारानी के भाव को समझना असम्भव है । सच्चिदानन्द-घन श्रीकृष्ण के दर्शन मात्र से ही गोपियों के हृदय में कोटि रमण-सुख से भी अधिक आनन्द प्रकट होता था, जिससे उनकी देहबुद्धि लुप्त हो जाती थी – क्या ऐसी स्थिति में उनके मन में कभी तुच्छ देह के रमण की बात उदित हो सकती थी? श्रीकृष्ण के अंग की दिव्य ज्योति उनके शरीर को स्पर्श कर रोम-रोम में रमण-सुख से कहीं अधिक आनन्द का अनुभव कराती थी !"[१२]

वृन्दावन के अलौकिक अनुभव

वृन्दावन पहुँचने के बाद स्वामीजी के मानस-पटल पर श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला के विषय में श्रीरामकृष्ण के मुख से सुनी हुई अनेक बातें जीवन्त हो उठीं । इस दिव्य प्रेमलीला का स्मरण करके वे भावविभोर हो उठे । वे राधा-कृष्ण के अलौकिक लीला की भावधारा में ऐसे बह गए कि स्वयं को सँभालना कठिन हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन की घटनाएँ मानो उनके समक्ष जीवन्त हो उठीं । वृन्दावन में कुछ दिन रहने के बाद उस धाम का गहन परिचय पाने के लिए वे आसपास के अन्य लीला-स्थलों का दर्शन करने चल पड़े ।

गिरि गोवर्धन की परिक्रमा

उन्होंने गोवर्धन पर्वत की परिक्रमा आरम्भ करते हुए यह संकल्प लिया कि अयाचित भाव से जो भिक्षा मिलेगी, वे मात्र उसी से अपनी भूख मिटायेंगे ! किसी से कुछ माँगेंगे नहीं । पहले दिन दोपहर को उनकी भूख की पीड़ा असह्य हो उठी। फिर उस समय आरम्भ हुई मूसलाधार वर्षा ने उनके

८. गौरीमाँ (बँगला ग्रन्थ), कलकत्ता, द्वि.सं., पृ. १५६

९. विवेकानन्द-साहित्य, कलकत्ता, खण्ड १, सं. २००५, पृ. ३३१

१०. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड १, सं. २००८, पृ. २४९-५०

११. श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, नागपुर, भाग १, सं. १९९९, पृ. ८९

१२. श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, खण्ड १, सं. २००८, पृ. २४९

कष्ट को और भी बढ़ा दिया। चलते-चलते वे थककर चूर भी हो चुके थे, तथापि राधारमण की मूर्ति को हृदय में धारण करके वे धीरे-धीरे अपने मार्ग पर चलते रहे।

तभी उन्होंने सुना मानो कोई पीछे से पुकार रहा हो, पर वे उस ओर ध्यान न देकर अपनी राह चलते रहे। वह व्यक्ति क्रमश: उनके निकटतर आने लगा और पुकारते हुए कहने लगा कि वह उनके लिए भोजन ला रहा है। वह व्यक्ति ईश्वर द्वारा प्रेषित है या नहीं – इसकी परीक्षा करने हेतु स्वामीजी ने भागना शुरू किया। वह व्यक्ति भी उनके पीछे दौड़ने लगा। करीब एक मील दौड़ाने के बाद ही वह उन्हें पकड़ सका। वह अपने साथ कई तरह के भोज्य-पदार्थ लाया था। उसने उनसे उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया। यह अद्भुत घटना देखकर स्वामीजी विस्मय से अभिभूत हो उठे और प्रभु की करुणा का प्रमाण पाकर उनके नेत्र सजल हो उठे।

एक शिक्षाप्रद दोहा

वृन्दावन में पदयात्रा करते समय एक जगह जोरों की वर्षा शुरू हो जाने पर स्वामीजी ने भीगते हुए मार्ग के पास ही खाली पड़ी एक कुटिया में प्रवेश किया। वह तीन ओर से खुला हुआ था। सम्भवत: उस कुटी में कभी कोई साधु रहा करते थे। वर्षा के कारण चलना असम्भव हो जाने के कारण वे वहीं ठहरकर प्रतीक्षा करने लगे। उनका मन उस समय बड़ा हताश था। स्वामीजी ने सहसा देखा दीवार पर कोयले से कबीरदास का यह दोहा लिखा हुआ था –

चाह चमारी चूहरी, अति नीचन की नीच,
मैं तो पूरन ब्रह्म था, जो तू न होती बीच ।।

अर्थात् – हे कामना, तू अत्यन्त नीच है, तू अधमों से भी अधम है। यदि तू बीच में बाधक के रूप में उपस्थित न होती, तो मैं तो (स्वभाव से ही) पूर्ण ब्रह्म था ही।'' इसे पढ़कर स्वामीजी को अपार आनन्द हुआ था।[१३]

राधाकुण्ड में तपस्या

श्रीकृष्ण की गोवर्धन आदि बाललीला से सम्बद्ध स्थानों की परिक्रमा करने के बाद स्वामीजी राधाकुण्ड गये और वहाँ कुछ दिन रहकर तपस्या की।[१४] वहाँ वे राधारानी की महिमा का प्रमाण पाकर मुग्ध हुए। उन दिनों उनके पास कौपीन के अतिरिक्त अन्य कोई भी परिधेय वस्त्र न था। अत: कुण्ड में स्नान के पहले उन्होंने उसे धोकर सूखने को डाल दिया और स्नान करने हेतु जल में प्रवेश किया। नहाने के बाद तट पर आकर उन्होंने देखा कि उनका कौपीन गायब है। इधर-उधर आँखें घुमाकर तलाशने पर उन्होंने देखा कि एक बन्दर उनका कौपीन लिये एक वृक्ष की डाल पर जा बैठा है। काफी प्रयासों के बावजूद बन्दर ने कौपीन नहीं छोड़ा। राधारानी के राज्य में एक अकिंचन संन्यासी पर यह कैसी विपत्ति आ पड़ी ! अब इस नग्न दशा में वे लोगों के बीच भला कैसे जाएँ ! राधारानी के प्रति क्षोभ से भरकर स्वामीजी ने सोचा कि लज्जा-निवारणार्थ वे गहन वन में चले जायेंगे और निराहार रहकर देहत्याग कर देंगे।

इसी विचार के साथ वे तेजी से वन की ओर चल पड़े। तभी एक व्यक्ति नये गेरुए वस्त्र तथा कुछ भोजन लेकर उनके पास आया और उनसे उन्हें ग्रहण करने का अनुरोध करने लगा। वह व्यक्ति सम्भवत: इन सारी घटनाओं को दूर से देख रहा था। अस्तु, इसे भी राधारानी का ही आशीर्वाद मानकर स्वामीजी ने उसके उपहार को स्वीकार किया। तदुपरान्त वे जब कुण्ड के किनारे लौटे, यह देखकर उनके आश्चर्य की सीमा न रही कि उन्होंने जहाँ अपना कौपीन सूखने के लिये रखा था, वह ठीक वहीं पर पड़ा हुआ है।[१५]

इन घटनाओं से उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि भगवान का मंगल वरद हस्त सदा-सर्वदा उनकी रक्षा कर रहा है।

वृन्दावन से ही स्वामीजी ने २० अगस्त, १८८८ को प्रमदादास मित्र के नाम एक अन्य पत्र में लिखा, ''महाशय, मेरे एक वयोवृद्ध गुरुभाई (अद्वैतानन्द) जो केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा करके अभी वृन्दावन लौटे हैं, गंगाधर (अखण्डानन्द) से मिले। गंगाधर तिब्बत और भूटान दो बार हो आया है। वह बड़ा सुखी है और परस्पर मिलकर आनन्दोल्लास से रो पड़ा। जाड़े के दिन उसने कनखल में बिताये। आपने उसे जो कमण्डलु दिया था, वह अब भी उसके पास है। वह लौटकर आ रहा है और इसी महीने वृन्दावन पहुँचनेवाला है। अत: उससे मुलाकात करने की आशा में मैंने अपना हरिद्वार जाना कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया है। अपने साथ रहनेवाले शंकरजी के उन ब्राह्मण भक्त को मेरा प्रणाम कहियेगा और आप भी मेरा प्रणाम ग्रहण कीजियेगा। – दास, नरेन्द्रनाथ[१६]

स्वामीजी वृन्दावन से हरिद्वार होते हुए केदारनाथ तथा बदरीनारायण की यात्रा करना चाहते थे। इसी निमित्त से कुछ दिनों बाद अगस्त के मध्य में उन्होंने हरिद्वार जाने के विचार से वृन्दावन से हाथरस की यात्रा की।[१७] ❖ **(क्रमश:)** ❖

१३. अध्यात्म-मार्ग-प्रदीप, (स्वामी तुरीयानन्द के वार्तालाप), प्रथम सं., पृ. १७४-७५; विवेक-ज्योति, १९९३, अंक १, पृ. ५७

१४. परिव्राजक विवेकानन्द, प्रव्राजिका मुक्तिप्राणा, तृ.सं. १९७३, पृ. ७८

१५. युगनायक विवेकानन्द, नागपुर, सं. १९९८, खण्ड १, पृ. २०९

१६. विवेकानन्द-साहित्य, खण्ड १, सं. २००५, पृ. ३३१-३२

१७. The Life of Swami Vivekananda by His Eastern and Western Disciples, 1979, Vol. I, p. 219

कर्मयोग – एक चिन्तन (१६)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मिशन आश्रम, राजकोट, गुजरात में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

कौन व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है? इस पर भगवान तृतीय अध्याय के १३वें श्लोक में कहते हैं –

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

भगवान कह रहे हैं, जो सत्पुरुष यज्ञ से बचे हुए भाग का प्रसाद का भोजन करता है, वह सभी पापों से मुक्त होता है – स मुच्यते सर्वकिल्बिषैः। इसी श्लोक के दूसरे भाग में भगवान कहते हैं कि जो पापी लोग हैं, अनर्थकारी पुरुष हैं, पामर हैं, जो जीवन में सभी प्रकार के भोग को अपने ही सुख के लिए उपयोग करते हैं, वे अघं पापा पचन्ति – वे मानो पाप को ही खा रहे हैं; तथा जो लोग यज्ञशिष्ट आशिनः जो लोग स्वयं भोग करने के पूर्व सग्रंहित भोग वस्तुओं से दूसरों की सेवा करते हैं, वे सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं।

हम कैसे सेवा करें, कर्म को यज्ञ बनावें? हम जिस फ्लैट में रहते हैं, उसे कैसे दूसरों की सेवा में लगायें? वह यज्ञशिष्ट कब होगा? इसका एक उदाहरण देखें।

मान लीजिये हमारे पास दस फ्लैट हैं। मैंने पूरी तरह विचार किया कि मुझे दो फलैट की आवश्यकता है, इसी से मेरा काम अच्छी तरह से चल जायेगा। मेरे पास आठ अधिक फ्लैट बच गये। समाचार पत्र में मैंने पढ़ा, या सामाजिक कार्यकर्ताओं से मैंने सुना कि वे लोग गरीब बच्चों को पढ़ाने के लिए स्थान चाहते हैं, लेकिन आस-पास कहीं भी उन्हें जगह नहीं मिल रही है। तब मैं स्वयं आगे बढ़कर उनसे कहूँगा कि मेरे पास इतने फ्लैट्स् हैं, इनमें बच्चों को पढ़ाने के लिए पर्याप्त व्यवस्था है, इनका आप उपयोग करें। अभी मुझे इनकी आवश्यकता नहीं है। आप उनको दान में मत दें, बिक्री न करें, किन्तु बिना मूल्य उन फ्लैटों को सत्कर्म में लगाने की अनुमति दें। कम-से-कम इसी से शुरू करें। इस प्रकार मैं दो फ्लैटों का उपयोग कर रहा हूँ तथा शेष फ्लैटों को सेवा के कार्य में लगा रहा हूँ, तो यह कर्म यज्ञ हो जायेगा और मैं मुक्ति का अधिकारी हो जाऊँगा। मेरे सभी पाप धुल जायेंगे।

केवल भावनाओं में परिवर्तन करके अपने दैनंदिन जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं को यज्ञ में परिवर्तित कर सकते हैं तथा हम उस यज्ञ के द्वारा सभी पापों से मुक्त हो सकते हैं।

मान लीजिये किसी घर की गृहिणी रोज छः व्यक्तियों का खाना बनाती है। पाँच व्यक्ति उसके परिवार के ही हैं और एक व्यक्ति का खाना वह हर रोज किसी गरीब को देती है, तो उसका रंधन-कर्म यज्ञ बन जायेगा।

मान लीजिए हमें पता लगा कि दूध, मक्खन, दही आदि की कमी होने वाली है, तो हमने दो बड़ा फ्रिज खरीद लिया। उन फ्रिजों में ये सारी वस्तुएँ हमने बड़ी मात्रा में खरीदकर भर दी। हमारे आस-पास गरीब लोग रहते हैं, उनके बच्चों के पास दूध नहीं है और हम दूध की खीर बनाकर खाते हैं, काफी पीते हैं, तो हम पाप को ही खा रहे हैं, हम पापी हैं। इसलिये हमको यह पाप करने का दंड अवश्य मिलेगा, कब मिलेगा यह भले ही हम न जानें।

स्वामीजी कहते हैं, – Selfishness is the greatest sin. रामेश्वरम् मंदिर में उनका दिया हुआ एक व्याख्यान है। स्वामीजी उसमें कहते हैं कि सबसे बड़ा पाप है स्वार्थपरता। यज्ञार्थ कर्म का एक ही अर्थ है – 'सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय कर्म करना। सभी व्यक्तियों के कल्याण के लिए, सबके सुख के लिए, जो कुछ कर्म हम करते हैं, तो मोक्ष की ओर जाते हैं। जो भगवान के द्वारा प्रवर्तित नियम को नहीं मानता, उसका जीवन व्यर्थ है –

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। ३-१६

जो सर्वजनसुखाय यज्ञमय जीवन नहीं बिताता, जो इन्द्रियाराम है, जिसको इंद्रियों के सुख में ही आराम मिलता है, जो पामर है, इंद्रियों के भोगों में लिप्त है, उस व्यक्ति का जीवन व्यर्थ है – मोघं पार्थ स जीविति, क्योंकि वह अघायु है, पाप को खाने वाला है, पशुओं के सामान इंद्रियों के भोगों में डूबा हुआ है। ऐसे व्यक्ति का जीवन पापपूर्ण और व्यर्थ है। इसलिये भगवान के द्वारा प्रवर्तित चक्र का हमें अनुसरण करना चाहिए। भगवान ने जो चक्र बनाया है, वह क्या है? स्वामी विवेकानन्द की भाषा में वह है दूसरों के लिये जीना – Live for others. दूसरों की पहले सेवा करो। यज्ञ से बचे हुए भोजन का भाग ग्रहण करो, तो तुम्हारा जीवन धन्य हो जायेगा।

एक बहुत बड़े मौलिक प्रश्न का उत्तर भगवान गीता के तीसरे अध्याय के १७ वें श्लोक में देते हैं। विश्व के जितने आध्यात्मिक या धर्म सम्बन्धी दर्शन हैं, अनुष्ठान हैं, उनके पीछे यदि मुक्ति प्राप्ति, ईश्वरप्राप्ति का लक्ष्य नहीं, स्वार्थ-अहंकार से पूर्णतः मुक्ति का लक्ष्य नहीं है, तो जीवन आध्यात्मिक नहीं है। इसी जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है, जब मनुष्य कर्म करते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं होता। वह नैष्कर्म्य सिद्धि में प्रतिष्ठित हो जाता है। भगवान कहते हैं –

यस्तु आत्मरतिरेवस्यात् आत्मतृप्तश्च मानवः।

आत्मनि एव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।३.१७

अर्थात् हे अर्जुन कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसको कोई कर्म करने की जरूरत नहीं है? जो व्यक्ति अपनी आत्मा के प्रेम में ही डूबा रहता है तथा तृप्ति के लिये उसे अन्य किसी वस्तु की जरूरत नहीं होती है, अपनी आत्मा में ही तृप्त रहता है, वह अपने आप में ही संतुष्ट रहता है, उसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि उपलब्ध होती है। (नैष्कर्मसिद्धि के विषय में सविस्तार जानने हेतु तुलसीदास के समय के एक साधु मधुसूदन सरस्वती द्वारा लिखित 'नैष्कर्म्यसिद्धि' नामक ग्रंथ देखें।)

आत्मरति क्या है? जैसे कुछ लोग भोजन रत हैं। उनका एक ही काम रहता है। सबेरे उठकर यही सोचते हैं कि आज कौन-सा स्वादिष्ट भोजन खाने के लिये बनवायें। ऐसा भोजनरत व्यक्ति यही सोचता रहता है कि सुस्वादु भोजन कहाँ और कैसे मिलता रहे। भगवान क्या कहते हैं – आत्मरति एव – जिसका आत्मा से अतिरिक्त विश्वब्रह्माण्ड की किसी भी चीज में रुचि नहीं है। अपने भीतर जो चैतन्य तत्त्व है, उसमें रत है, ईश्वर में रत है, वह आत्मरति है।

हम साधारण लोग आत्मतृप्त नहीं हैं। आत्मतृप्त कौन है? जिसको सुख के लिए, तृप्ति के लिये न भीतर, न बाहर किसी भी वस्तु की, व्यक्ति की, घटना की, स्थल की आवश्यकता नहीं होती है। विश्वब्रह्माण्ड में उसको आत्मतृप्त होने के लिये उसे अपने को छोड़कर और किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति अपनी आत्मा में, ईश्वर में, समाधि में रहता है, वही आत्मतृप्त कहा जाता है।

आत्मसन्तुष्ट, आत्मतृप्त विशेषण लगाकर बार-बार भगवान हमें जागृत कर रहे हैं, होश में ला रहे हैं। हम सब लोग बेहोशी में जीवन बिता रहे हैं। स्वादिष्ट भोजन मिला। तृप्ति हुई, किन्तु वह तृप्ति कितनी देर तक रहेगी? तृप्त तो हुए, किन्तु सन्तुष्ट नहीं हो पाये। इसलिये भगवान कहते हैं कि आत्मनि एव सन्तुष्टः – स्वयं में तृप्त और सन्तुष्ट रहो। ऐसे व्यक्ति का कोई कर्तव्य नहीं होता है – तस्य कार्यं न विद्यते।

इसे सरल शब्दों में कहें तो, समाधिवान पुरुष या जिसने अपने जीवन से अहंकार को पोंछ दिया है और भीतर से अनुभव करता है कि मैं प्रभू के हाथों का यंत्र हूँ, मुझसे जो कुछ भी हो रहा है, उसे प्रभु ही करा रहे हैं। प्रभु की कृपा से सुख-दुःख आते-जाते हैं। यहाँ तक कि श्वास-प्रश्वास भी प्रभु की कृपा से ही चल रही है। हृदय भी प्रभु-कृपा से ही धड़क रहा है। यदि मैं बीमार हूँ, तो भी प्रभु की कृपा है। भोजन नहीं मिला, तो यह भी प्रभु की कृपा है, वे आज मुझे भूखा रखना चाहते हैं। ऐसी वृत्ति जब हो जाय, तो ऐसा व्यक्ति ही नैष्कर्म्य-सिद्ध होता है। उसका कोई अपना कर्तव्य नहीं रहता है।

हममें से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर देखना होगा, अपने आप से पूछना होगा कि क्या मैं तृप्त हूँ? क्या मैं अपने आप में सन्तुष्ट हूँ?

यदि प्रसन्न रहने के लिये मुझे किसी टेलीविजन की, किसी यंत्र आदि की, दूसरे व्यक्ति या वस्तु की जरूरत नहीं है। एक शब्द में प्रसन्न रहने के लिये मुझे विश्व-ब्रह्माण्ड की ही आवश्यकता नहीं है, तो ऐसा व्यक्ति ही कह सकता है कि मेरा कोई कर्तव्य नहीं है। पर यह अत्यंत उच्च अवस्था है। जब व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तो वह वर्तमान में जीता है।

हमारे संघ के एक बहुत बड़े ब्रह्मज्ञ महापुरुष प्रातःस्मरणीय पूजनीय स्वामी यतीश्वरानन्द जी महाराज संघ के उपाध्यक्ष थे। वे १९३३ से १९५० तक विदेश में रहे। यहाँ आकर वे बैंगलोर में रहते थे। उनका जॉन मैनेटा नामक एक शिष्य ग्रीश देश से आया था। वह अपने गुरु से मिलने गया। वह कहने लगा, 'महाराज, मैं यूरोप और जर्मनी से आपके लिए बहुत निमन्त्रण लेकर आया हूँ, वहाँ के सब भक्तों ने आपको बुलवाया है। आप भारतवर्ष में रहने के लिये आये हैं, किन्तु हम लोगों को सत्संग देने के लिये आप बीच-बीच में विदेश में आइए। यतीश्वरानन्द जी महाराज के पास जो उस देश के ऊनी कपड़े या अन्य कपड़े थे, उसे उन्होंने मेनेटा को देते हुये कहा, ये सब कपड़े तुम ले जाओ। वह बोला – No, no Swami, I have come over here to invite you, you come over there. मैं आपको निमन्त्रण देने आया हूँ। जब आप वहाँ आयेंगे, तब आपको इन कपड़ों की पुनः आवश्यकता होगी। संघ ने आपको भारतवर्ष में रहने के लिये कहा है, तो आप भारत में तो रहेंगे ही, किन्तु हम लोगों का मार्ग-दर्शन करने के लिये कभी-कभी वहाँ भी आइए। पर महाराज उसे उन कपड़ों को अपने साथ ले जाने को ही कहा। वह बार-बार अनुरोध करने लगा, नहीं, महाराज आप अवश्य आइये। इतना सुनने के बाद यतीश्वरानन्द जी महाराज ने थोड़ा गम्भीर होकर कहा, जॉन सुनो, मेरे सभी कर्म समाप्त हो गये हैं, अब मैं क्षण-क्षण में जीता हूँ – Look hear John, my all karmas are over, now I live minute to minute.

इसे ही आत्मरति एवं आत्मतृप्त कहते हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार की स्थिति प्राप्त कर लेता है, वह सर्वथा वर्तमान में जीता है। वह कभी भविष्य और भूतकाल में नहीं जीता है। उसको कभी नहीं लगता है कि पिछले दिन क्या हुआ था? तीन घंटे के बाद क्या होगा? मैं आगे क्या करूँगा? नहीं, उसको ऐसा कुछ भी नहीं लगता। क्योंकि वह क्षण-क्षण में जीता है – He lives minute to minute.

ईश्वर ऐसे लोगों की सारी व्यवस्था करते हैं। जिन्होंने ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली है, वही कह सकता है कि मैं अब कुछ नहीं करूँगा और परमात्मा उससे कर्म नहीं कराते। पर हम लोगों के लिये कर्म करना परम आवश्यक है। वह कर्म कैसे करना चाहिए, उस पर और हम चर्चा करेंगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (२७)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

* * *

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति
धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ।। २/२/१२

अन्वयार्थ – **सर्व-भूत-अन्तरात्मा** सभी प्राणियों की अन्तरात्मा (होने के कारण ही) **वशी** सबका नियन्ता **एकः** अद्वितीय (होकर) **यः** जो **एकम् रूपम्** अपने अद्वितीय सत्ता को ही **बहुधा करोति** (उपाधि-भेद से) अनेक प्रकार का कर देता है; **तम्** उसे **ये** जो सभी **धीराः** विवेकवान लोग (आचार्य के उपदेश के अनुसार) **आत्मस्थम्** अपने भीतर स्थित **अनुपश्यन्ति** देखते हैं, **तेषाम्** उन्हीं को **शाश्वतम्** नित्य **सुखम्** सुख की प्राप्ति होती है, **न इतरेषाम्** दूसरों को नहीं।

भावार्थ – सभी प्राणियों की अन्तरात्मा (होने के कारण ही) सबका नियन्ता अद्वितीय (होकर) जो अपने अद्वितीय सत्ता को ही (उपाधि-भेद से) अनेक प्रकार का कर देता है; उसे जो सभी विवेकवान लोग (आचार्य के उपदेश के अनुसार) अपने भीतर स्थित देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं।

भाष्यम् – किम् च – स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत् समः अभ्यधिको वा अन्यः अस्ति। वशी सर्वं हि अस्य जगत्-वशे वर्तते। कुतः? सर्वभूत-अन्तरात्मा। यत एकम् एव सत् एकरसम् आत्मानं विशुद्ध-विज्ञान-रूपं नाम-रूप-आदि-अशुद्ध-उपाधि-भेदवशेन बहुधा अनेक-प्रकारं यः करोति स्वात्म-सत्ता-मात्रेण अचिन्त्य-शक्तित्वात्। तं आत्मस्थं स्व-शरीर-हृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्य-आकारेण अभिव्यक्तम् इति एतत्।

भाष्य-अनुवाद – इसके अतिरिक्त, वही परमेश्वर सर्वव्यापी स्वतंत्र और एक है अर्थात् उसके समान या उससे महत्तर अन्य कोई नहीं है। वह वशी या नियन्ता है, क्योंकि यह सारा जगत् उसी के अधीन है। क्यों? (इसलिये कि) वह समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा है। जो एक होकर भी, अचिन्त्य शक्तिमान् होने के कारण अपनी सत्ता मात्र से, अपने एकरस विशुद्ध विज्ञानमय रूप को नाम-रूप आदि अशुद्ध उपाधियों के भेद से अनेक प्रकार का कर लेता है, उस अपने शरीर के हृदय-आकाश में स्थित बुद्धि में चैतन्य के रूप में अभिव्यक्त है, यही वह (नित्य सुख-स्वरूप) आत्मा है।

न हि शरीरस्य आधारत्वम् आत्मनः आकाशवत् अमूर्तत्वात्; आदर्शस्थं मुखम् इति यद्वत्। तम् एतम् ईश्वरम् आत्मानं ये निवृत्त-बाह्य-वृत्तयो अनुपश्यन्ति आचार्य-आगम-उपदेशमनु साक्षात्-अनुभवन्ति धीरा विवेकिनः तेषां परमेश्वर-भूतानां शाश्वतं नित्यं सुखम् आत्मानन्द-लक्षणं भवति; न इतरेषां बाह्य-आसक्त-बुद्धीनाम् अविवेकिनां स्वात्मभूतम् अपि अविद्या-व्यवधानात् ।। २/२/१२ (९८) ।।

जैसे दर्पण में दिख रहे मुख का दर्पण आधार नहीं बन सकता, वैसे ही आत्मा के आकाशवत् अमूर्त (निराकार) होने के कारण शरीर उसका आधार नहीं बन सकता। बाह्य वृत्तियों से निवृत्त हो जानेवाले जो धीर या विवेकी लोग आचार्य के उपदेशों का (श्रवण-मनन आदि के द्वारा) अनुसरण करते हुए उस ईश्वर को अपनी आत्मा के रूप में साक्षात् देखते हैं, उन परमेश्वर के साथ अभिन्नता का बोध करनेवालों को ही आत्मानन्द रूपी नित्य सुख की प्राप्ति होती है, न कि उन बाह्य विषयों में आसक्त बुद्धिवाले अन्य लोगों को, क्योंकि स्वयं आनन्द-स्वरूप होकर भी अविद्या-रूपी व्यवधान के कारण वे उसे प्राप्त नहीं कर पाते।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।। २/२/१३

अन्वयार्थ – **यः** जो **अनित्यानाम्** अनित्य वस्तुओं का **नित्यः** शाश्वत कारण-शक्ति है, **चेतनानाम्** चेतन ब्रह्मा आदि का **चेतनः** चैतन्य स्वरूप है, **एकः** एक (अद्वितीय) है, **बहूनाम्** अनेक जीवों के **कामान्** काम्य फलों का **विदधाति** विधान करता है, **तम्** उसे **ये** जो सभी **धीराः** विवेकवान् लोग **आत्मस्थम्** अपने भीतर स्थित **अनुपश्यन्ति** देखते हैं, **तेषाम्** उन्हीं को **शाश्वतम्** नित्य **सुखम्** सुख की प्राप्ति होती है, **न इतरेषाम्** दूसरों को नहीं।

भावार्थ – जो अनित्य वस्तुओं में शाश्वत कारण-शक्ति है, चेतन ब्रह्मा आदि का चैतन्य स्वरूप है, एक (अद्वितीय) है, अनेक जीवों के काम्य फलों का विधान करता है, उसे जो सभी विवेकवान् लोग अपने भीतर स्थित देखते हैं, उन्हीं को नित्य सुख की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं।

भाष्यम् – किं च – नित्यो अविनाशि अनित्यानां विनाशि-नाम्। चेतनः अचेतनानां चेतयितृणां ब्रह्मादीनां प्राणिनाम् अग्नि-निमित्तम् इव दाहकत्वम् अनग्नीनाम् उदक-आदीनाम् आत्मचैतन्य निमित्तम् एव चेतयितृत्वम् अन्येषाम्।

भाष्य-अनुवाद – इसके अतिरिक्त – अनित्य या नाशवान् पदार्थों में जो अविनाशी है; जो ब्रह्मा से लेकर समस्त चेतन प्राणियों में चैतन्य है – जैसे जल आदि, जो अग्नि नहीं हैं, उनमें अग्नि के कारण दाहकता आ जाती है, वैसे ही आत्म-चैतन्य के कारण ही अन्य प्राणियों में चेतना आ जाती है।

किं च स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्म-अनुरूपं कामान् कर्मफलानि स्व-अनुग्रह-निमित्तान् च कामान् यः एको बहूनाम् अनेकेषाम् अनायासेन विदधाति प्रयच्छति इति एतत्। तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः उपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूत एव स्यात् न इतरेषाम् अनेवंविधानाम्।। २/२/१३ (९९)।।

इसके अतिरिक्त वह सर्वज्ञ तथा सबका ईश्वर है और संसार की कामना करनेवालों पर अनुग्रह करके वह अकेले ही अनायास उनके कर्मों के अनुरूप कर्मफलों को प्रदान करता है। जो विवेकवान् लोग उसकी अपनी बुद्धि में अनुभूति करते हैं, वे ही अपने आत्म-स्वरूप चिरन्तन शान्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य लोग उसे प्राप्त नहीं कर पाते।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजनीयां किमु भाति विभाति वा।। २/२/१४

अन्वयार्थ – **तत्** उस **अनिर्देश्यम्** अवाङ्-मनस-गोचर **परमम्** सर्वोत्तम **सुखम्** आत्मज्ञान-रूपी सुख का (निष्काम ब्रह्मज्ञानी) **एदत् इति** प्रत्यक्ष रूप से **मन्यन्ते** अनुभव करते हैं, (मैं) **तत्** उस आत्मतत्त्व को **कथम् नु** किस प्रकार **विजनीयाम्** जान सकूँगा? **किम् उ** क्या (वह) **भाति** प्रकाश-रूप में **विभाति** स्पष्ट रूप से अनुभूत होता है? **वा** या (नहीं होता)।

भावार्थ – उस अवाङ्-मनस-गोचर सर्वोत्तम आत्मज्ञान-रूपी सुख का (ज्ञानी लोग) प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करते हैं, मैं उस आत्मतत्त्व को किस प्रकार जान सकूँगा? क्या (वह) प्रकाश-रूप में स्पष्ट अनुभूत होता है? या (नहीं होता)।

भाष्यम् – यत् तत् आत्मविज्ञानं सुखम् अनिर्देश्यं निर्देष्टुम् अशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृत-पुरुष-वाङ्-मनसयोः अगोचरम् अपि सन्, निवृत्त-एषणा ये ब्राह्मणाः ते यत् तत् एतत् प्रत्यक्षम् एव इति मन्यन्ते।

भाष्य-अनुवाद – आत्मज्ञान-रूप जो अवर्णनीय सुख है, वह यद्यपि सामान्य लोगों की वाणी तथा मन के अगोचर है, तथापि जो ब्राह्मण (ब्रह्मजिज्ञासु) कामनाओं से रहित हैं, वे इसकी 'यह' के रूप में (प्रत्यक्ष) अनुभूति करते हैं।

कथं नु केन प्रकारेण तत् सुखम् अहं विजानीयाम् इदम् इति आत्मबुद्धि-विषयम् आपादयेयं यथा निवृत्त-एषणा यतयः। किमु तत् भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तत् यतः अस्मद्-बुद्धि-गोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किं वा न इति।। २/२/१४ (१००)।।

कामनाओं से रहित यतिगण उस आत्मसुख को जैसे 'यह' के रूप में (प्रत्यक्ष) अनुभव करते हैं, उसे मैं कैसे 'यह' के रूप में अपनी बुद्धि का विषय बना सकूँगा? वह जो स्वयं प्रकाश-स्वरूप है, क्या हमारी बुद्धि के विषय के रूप में स्पष्ट दिखता है अथवा नहीं दिखता?

* * *

अत्र उत्तरम् इदं भाति च विभाति च इति। कथम्?

इसका उत्तर यह है कि वह स्वयंप्रकाश है और अलग से भी प्रकाशित होता है। कैसे? –

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।। २/२/१५

अन्वयार्थ – (उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में बताया जा रहा है कि वह प्रकाश-स्वरूप है और स्पष्ट रूप से अनुभूत होता है) **तत्र** उस परमात्मा ब्रह्म में **सूर्यः** सूर्य **न भाति** (स्वतंत्र रूप से) प्रकाशित नहीं होता (अर्थात् ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता), **न चन्द्र-तारकम्** चन्द्रमा और तारे भी उसे प्रकाशित नहीं करते, **इमाः** ये **विद्युतः** विद्युत्-समूह **न भान्ति** उसे प्रकाशित नहीं करते, (तो फिर) **अयम्** यह (जागतिक) **अग्निः कुतः** अग्नि उसे भला कैसे प्रकाशित कर सकती है? **तम् एव भान्तम्** उसी के प्रकाशमान होने से **सर्वम्** सारी वस्तुएँ **अनु-भाति** तदनुसार प्रकाशित होती हैं, **तस्य** उसी की **भासा** ज्योति से **इदम् सर्वम्** यह सब कुछ **विभाति** विविध रूपों में प्रकाशित होता है।

भावार्थ – (उपरोक्त प्रश्न के उत्तर में बताया जा रहा है कि वह प्रकाश-स्वरूप है और स्पष्ट रूप से अनुभूत होता है) उस परमात्मा ब्रह्म में सूर्य (स्वतंत्र रूप से) प्रकाशित नहीं होता (अर्थात् ब्रह्म को प्रकाशित नहीं करता), चन्द्रमा और तारे भी उसे प्रकाशित नहीं करते, ये विद्युत्-समूह उसे प्रकाशित नहीं करते, (तो फिर) यह (जागतिक) अग्नि उसे भला कैसे प्रकाशित कर सकती है? उसी के प्रकाशमान होने से सारी वस्तुएँ तदनुसार प्रकाशित होती हैं, उसी की ज्योति से यह

सब कुछ विविध रूपों में प्रकाशित होता है।

भाष्यम् – न तत्र तस्मिन् स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्व-अवभासकः अपि सूर्यो भाति तत् ब्रह्म न प्रकाशयति इत्यर्थः तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयम् अस्मद्-दृष्टिगोचरः अग्निः ? किं बहुना यदिदम् आदिकं सर्वं भाति तत् तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानम् अनुभाति अनुदीप्यते। यथा जल-उल्मुक-आदि-अग्नि-संयोगात् अग्निं दहन्तम् अनु दहति न स्वतः तद्वत् तस्य एव भासा दीप्त्या सर्वम् इदं सूर्य-आदि विभाति।

भाष्य-अनुवाद – सूर्य सबका अवभासक होकर भी, उस आत्म-स्वरूप ब्रह्म में प्रकाशित नहीं होता, वैसे ही चन्द्रमा, तारे तथा विद्युत् भी (प्रकाशित नहीं होते), तो फिर हमें दृष्टिगोचर होनेवाला अग्नि उसे कैसे प्रकाशित करेगा? अधिक क्या कहें – इन सबसे लेकर (अन्य भी) जो कुछ प्रकाशमान है, वह सब कुछ उन परमेश्वर की दीप्ति से ही दीप्तिमान होता है। जैसे (गरम) जल, उल्मुक (जलती हुई लकड़ी) आदि अग्नि के योग से ही, अग्नि के दाह से ही दाहक होती है, न कि अपने गुण से; वैसे ही उसी के प्रकाश के द्वारा ये सभी – सूर्य आदि प्रकाशित होते हैं।

यतः एवं तत् एव ब्रह्म भाति च विभाति च। कार्यगतेन विविधेन भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतः अवगम्यते। न हि स्वतः अविद्यमानं भासनम् अन्यस्य कर्तुं शक्यम्, घटादीनाम् अन्य-अवभासकत्व-अदर्शनात्-भासन-रूपाणां च आदित्यादीनां तद्-दर्शनात्॥२/२/१५ (१०१)

ऐसा होने से वह ब्रह्म ही स्वयंप्रकाश है और प्रकाशित भी होता है। कार्य में अनेक रूपों में प्रकाशित होने पर भी वह ब्रह्म स्वयं-प्रकाश के रूप में जाना जाता है। जिसमें स्वयं का प्रकाश नहीं होता, वह दूसरे को भी प्रकाशित नहीं कर सकता; क्योंकि (स्वप्रकाशरहित) घट आदि दूसरों को प्रकाशित करते नहीं दिखते, जबकि प्रकाशमान सूर्य आदि वैसा (दूसरों को प्रकाशित) करते हुए दिखाई देते हैं। ❖ **(क्रमशः)** ❖

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

देहेन्द्रियप्राणमनोऽहमादिभिः
स्वाज्ञानक्लृप्तैरखिलैरुपाधिभिः।
विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं
पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत्॥३८४॥

अन्वय – देह-इन्द्रिय-प्राण-मनः-अहम्-आदिभिः स्व-अज्ञान-क्लृप्तैः अखिलैः उपाधिभिः विमुक्तं अखण्ड-रूपं पूर्णं महाकाशं इव आत्मानं अवलोकयेत्।

अर्थ – अपने अज्ञान द्वारा कल्पित – देह, इन्द्रियों, प्राण, मन, अहंकार आदि समस्त उपाधियों से विमुक्त आत्मा को पूर्ण महा-आकाश के समान अखण्ड रूप में देखना चाहिये।

घटकलशकुसूलसूचिमुख्यै-
र्गगनमुपाधिशतैर्विमुक्तमेकम्।
भवति न विविधं तथैव शुद्धं
परमहमादिविमुक्तमेकमेव॥३८५॥

अन्वय – गगनं घट-कलश-कुसूल-सूचि-मुख्यै उपाधि-शतैः विमुक्तं एकम्, विविधं न भवति तथा एव अहम्-आदि-विमुक्तं शुद्धं परं एकम् एव।

अर्थ – (जैसे) घट, कलश, अन्नागार, सूई आदि सैकड़ों उपाधियों से विमुक्त आकाश एक रहता है, अनेक नहीं; वैसे ही अहंता आदि से विमुक्त शुद्ध परब्रह्म एक (अद्वितीय) है।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम्॥३८६॥

अन्वय – ब्रह्म-आदि-स्तम्ब-पर्यन्ताः उपाधयः मृषा-मात्राः, ततः स्वं आत्मानं एकात्मना स्थितम् पूर्णं पश्येत्।

अर्थ – सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से लेकर घास के तिनके तक – सारी उपाधियाँ पूर्णतः मिथ्या हैं। अतः अपनी आत्मा को ही अद्वितीय आत्मा के रूप में पूर्ण भाव से विराजमान देखो।

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके
तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम्।
भ्रान्तेर्नाशे भाति दृष्टाहितत्त्वं
रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम्॥३८७॥

अन्वय – यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तत् तत् विवेके तस्मात् विभिन्नम् न एव तत् मात्रम्, भ्रान्तेः नाशे दृष्ट-अहि-तत्त्वं रज्जुः भाति, तद्वत् विश्वं आत्म-स्वरूपम्।

अर्थ – जिस अधिष्ठान में भ्रान्ति के कारण कोई वस्तु कल्पित होती है, विवेक हो जाने पर वह वस्तु मूल अधिष्ठान मात्र ही रह जाती है, उससे भिन्न नहीं दिखती। (जैसे) भ्रान्ति का नाश होने पर (रस्सी में) देखा गया सर्प रस्सी के रूप में ही प्रकाशित हो उठता है, वैसे ही यह विश्व आत्म-स्वरूप में प्रकाशित हो उठता है।

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन॥३८८॥

अन्वय – स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयं इन्द्रः स्वयं शिव; स्वयं इदं सर्वं विश्वम्, स्वस्मात् अन्यत् न किञ्चन।

अर्थ – तुम स्वयं ही ब्रह्मा हो, स्वयं विष्णु हो, स्वयं इन्द्र हो और स्वयं शिव हो; तुम स्वयं ही सम्पूर्ण विश्व है, तुम्हारी अपनी आत्मा से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है।

❖ **(क्रमशः)** ❖

क्या आप जानते हैं? स्वामी विवेकानन्द जी की १५० वीं जयन्ती के सम्बन्ध में?

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा था, ''मृत्युपर्यन्त काम करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ, और जब मैं नहीं रहूँगा, मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी।

''जब तक करोड़ों भूखे और अशिक्षित रहेंगे, तब तक मैं प्रत्येक उस आदमी को विश्वास-घातक समझूँगा, जो उनके खर्च पर शिक्षित हुआ है, किन्तु उन पर ध्यान नहीं देता।''

स्वामीजी की उपरोक्त वाणी विश्व के वायुमंडल में व्याप्त है, ब्रह्माण्ड के कण-कण में अनुस्युत है एवं सर्वत्र सबको मानवता के प्रति कुछ करने को प्रेरित कर रही है। स्वामीजी की सर्वव्यापी प्रचण्ड लोक-कल्याण-ध्वनि सदा गगन में निनादित हो रही है और इस संसार के प्राणियों के उत्थान हेतु जन-मानस को उद्वेलित कर रही है। यह कब तक चलता रहेगा? जब तक स्वामीजी का स्वप्न पूर्णत: साकार नहीं हो जाता।

आज सारा विश्व स्वामी विवेकानन्द को लेकर उत्साहित, उन्मत्त और उमंग में है। ऐसा क्यों है? ऐसा क्या है विवेकानन्द में कि सर्वधर्मावलम्बी, सभी मतानुयायी, सभी लोग उन्हें अपना आदर्श मानते हैं, सभी राजनीतिक दल उन्हें अपना मानते हैं, राष्ट्रप्रेमी, समाज सुधारक उनसे देश-सेवा के गुण सीखते हैं और मुमुक्षु उनसे मुक्ति का अभिनव सहज पथ प्राप्त करते हैं? ऐसी क्या विशेषता है उनमें? पाठकों! इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं स्वामी विवेकानन्द के साहित्यों, पत्रावली और व्याख्यानों में खोजिये। आप स्वयं उनके संघर्षमय, त्यागमय जीवन की विलक्षण गाथा में, उनके आदर्शमय जीवन की झलकियों में अनुसंधान कीजिये। मैं तो केवल इस महान पुरुष की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में राष्ट्रव्यापी होनेवाले कार्यक्रमों की संक्षिप्त सूचना दे रहा हूँ, जिससे आप उनमें भाग लेकर अपने जीवन-निर्माण में सहायता प्राप्त कर सकें।

आज पूरे विश्व में स्वामी विवेकानन्दजी की १५०वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में कई वर्ष-व्यापी कार्यक्रम आयोजन किये जा रहे है। स्वामी विवेकानन्द द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन भारत सरकार और जनता के हार्दिक सहयोग से ४ वर्ष तक विशेष रूप से स्वामीजी की जयन्ती मना रहा है और इसके अन्तर्गत अनेकों जनहितकारी योजनाओं का संचालन कर रहा है। इस योजना का संक्षिप्त इतिहास एवं विवरण प्रस्तुत है।

योजनाओं का उद्देश्य

१. स्वामी विवेकानन्द जी के जीवनप्रद संदेशों, उनके व्याख्यानों तथा उदार, शक्तिदायी विचारों से समाज के सभी वर्गों, विशेषकर युवकों को प्रबुद्ध एवं जागरुक करना। २. समाज के गरीबों की 'कर्म पूजा के समान है' इस भाव से सेवा करना। ३. नारियों को स्वावलम्बी एवं समर्थ बनने में सहायता करना। ४. बच्चों के सर्वांगीण विकास एवं माताओं के कल्याण हेतु कार्य करना। ५. समाज में धार्मिकसद्भाव और शान्ति की स्थापना करना।

उपरोक्त उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुये रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ, हावड़ा ने भारत सरकार को एक प्रस्ताव दिया कि हम इस प्रकार से स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती मनाना चाहते हैं और उसकी रूपरेखा प्रस्तुत की। भारत सरकार ने अनेकों प्रतिष्ठित नागरिकों, नेताओं, और रामकृष्ण मिशन के संन्यासियों से संयुक्त एक राष्ट्रीय समिति का गठन किया। इस समिति की पहली सभा प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह जी की अध्यक्षता में २० मई, २०१० को रेस कोर्स रोड, नई दिल्ली में आयोजित की गयी। इस सभा में उपस्थित थे — रामकृष्ण मठ-मिशन के तत्कालीन महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी महाराज, विवेकानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति स्वामी आत्मप्रियानन्द, डॉ. कर्ण सिंह, सिक्किम के राज्यपाल डॉ. वाल्मीकि प्रसाद सिंह, लोकसभा की विपक्ष की नेता श्रीमती सुषमा स्वराज, तत्कालीन वित्तमंत्री श्री प्रणव मुखर्जी, गुजरात के मुख्यमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी, श्री सीताराम येचुरी, उत्तराखंड के मुख्यमंत्री श्री रमेश पोखरियाल श्रीमती गिरिजा व्यास, डॉ. सौमेन्द्र नाथ बेरा, डॉ. के पनमोदी, श्री मणि शंकर मुखर्जी, श्री भरत नराह, श्री अभीक सरकरा, श्री हीरा सिंह गबरिया. प्रो. मृणाल मिरी, प्रो. एम.जी.के मेनन., प्रो. लोकेश चन्द्र, प्रो. नवांग सामतें, डॉ. सतकड़ी मुखोपाध्याय, श्री रूद्रांशु मुखर्जी, आदि। राष्ट्रीय समिति के सभी सदस्यों ने समारोह मनाने से सम्बन्धित विषयों पर महत्वपूर्ण सकारात्मक विचार प्रस्तुत किये और इस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से चर्चा हुई। सभा सफल एवं सार्थक रही।

राष्ट्रीय समिति की दूसरी सभा तत्कालीन वित्तमंत्री श्री प्रणव मुखर्जी की अध्यक्षता में २६ मई, २०११ को नार्थ ब्लाक दिल्ली में कक्ष न. ४१ में हुयी, जिसमें स्वामी प्रभानन्द जी, स्वामी सुवीरानन्द जी और भारत सरकार के अनेकों मंत्री एवं अन्य उच्च पदस्थ अधिकारी विद्यमान थे। सभा में अनेकों प्रस्ताव पारित किये गये। एनआईसी द्वारा स्वीकृत मुख्य प्रस्ताव हैं –

१. स्वामी विवेकानन्द जी पर डीवीडी निर्माण

२. स्वामी विवेकानन्द जी जहाँ अध्ययन किये उन स्कूलों, कॉलेजों को उन्नत एवं आधुनिकीकरण करना।

३. रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम वृन्दावन के हॉस्पीटल को विकसित करने एवं आडोटोरियम निर्माण तथा रामकृष्ण मिशन सेवा प्रतिष्ठान में विवेकानन्द डाइग्नोस्टिक कार्डिक केयर सेन्टर के निर्माण हेतु सहायता करना।

४. रामकृष्ण मिशन खेतड़ी को स्वामी विवेकानन्द संग्रहालय बनाने हेतु सहायता करना।

५. आर्ट इंस्टीट्यूट शिकागों में स्वामी विवेकानन्द पर वार्षिक व्याख्यान कराना। शिकागो विश्वद्यिालय में 'विवेकानन्द चेयर' की स्थापना करना। इनके सिवा अन्य प्रस्ताव भी रखे गये थे, जिनमें से अधिकांश को एनआईसी ने स्वीकृति दे दी।

एनआईसी की तीसरी सभा २४ मार्च २०१२ को नार्थ ब्लॉक, नयी दिल्ली में हुई, जिसमें ३८ प्रस्तावों पर सभा में चर्चा हुई। स्वामी सुवीरानन्द जी ने दो महत्वपूर्ण सुझाव दिये – १. मानव विकास संसाधन मंत्रालय के द्वारा सभी स्कूल कॉलेजों को निर्देश दिये जायँ कि वे स्वामी विवेकानन्द जी की १५०वीं जयन्ती, १२ जनवरी, २०१३ को समुचित ढंग से से मनायें और २. २०१३-१४ को राष्ट्रीय जागरण वर्ष के रूप में घोषित किया जाय। २०१३ में स्वामी जी के नाम पर सिक्का और स्टाम्प निकालने के साथ ही विभिन्न केन्द्रों एवं संस्थानों से सम्बन्धित लगभग ३९ प्रस्ताव थे, जिनमें से एनआईसी ने कुछ को स्वीकृत किया एवं कुछ को राज्य सरकार और बेलूड़ मठ के अन्तर्गत विचारणीय रखा।

अंततः चतुवर्षीर्य परियोजना दो भागों में संचालित हो रही है। प्रथम ग्रुप ए., जो सरकार के द्वारा पूर्णतः अनुदानित है। दूसरा ग्रुप बी., जो रामकृष्ण मिशन स्वयं जनता और अपने शुभेच्छुओं के सहयोग से संचालित कर रहा है।

यह समारोह २०१० से २०१४ तक विभिन्न रूपों में सम्पूर्ण देश-विदेश में मनाया जा रहा है।

प्रधानमंत्री जी के द्वारा कार्यक्रम का उद्घाटन

भारत के माननीय प्रधानमंत्री श्री मनमोहन सिंह जी ने १२ जनवरी, २०११ को विज्ञान भवन, नई दिल्ली में इस चतुर्वर्षीय समारोह का औपचारिक रूप से उद्घाटन किया। इस कार्यक्रम में महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी, रामकृष्ण मिशन, दिल्ली के सचिव स्वामी शान्तानन्द जी और अन्यान्य बहुत से गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

ग्रुप ए का कार्य क्षेत्र है –

१. प्रिंट मीडिया – इसके प्रभारी रामकृष्ण मिशन, हैदराबाद के सचिव स्वामी ज्ञानदानन्द जी हैं। इसमें स्वामी विवेकानन्द जी की संक्षिप्त जीवनी विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं अन्य भाषाओं में भी प्रकाशित की जायेगी तथा भारतीय विश्वविद्यालयों के सभी ग्रन्थालयों, सभी सरकारी पुस्तकालयों और राजदूतावासों में वितरित की जायेगी। बच्चों के लिये स्वामी विवेकानन्द का जीवन तथा संदेश एवं कुछ राष्ट्रीय नेताओं के जीवनियों का प्रकाशन किया जायेगा। युवकों के लिये रियायती मूल्य की पुस्तकों का प्रकाशन एवं वितरण किया जायेगा।

२. इलेक्ट्रोनिक मिडिया – इस योजना के प्रभारी रामकृष्ण मिशन, गोलपार्क, कोलकाता के स्वामी सर्वभूतानन्द जी हैं। इसमें स्वामी विवेकानन्द जी पर एक फीचर फिल्म का निर्माण करना, स्वामी विवेकानन्द जी के चयनित कृतित्वों पर मल्टी मिडिया ऑडियो डीवीडीएस का निर्माण करना, बच्चों के लिये एक एनीमेशन फिल्म का निर्माण करना और दूरदर्शन पर विशेष कार्यक्रमों का प्रसारण कराना है।

३. युवा सम्मेलन – इसके प्रभारी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति स्वामी आत्मप्रियानन्द जी हैं। इस योजना के अन्तर्गत भारत के प्रमुख शहरों में युवा परामर्श प्रभाग का निर्माण करना, विद्यालयीय बच्चों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के छात्रों, अभिभावकों और व्यवसायियों के लिये आदर्श-शिक्षा के कार्यक्रम करना, राष्ट्रीय युवा-शिविरों का आयोजन करना, स्थानीय और राज्यस्तरीय युवा-शिविरों का आयोजन करना, भाषण, निबन्ध, वाद-विवाद और प्रश्नोत्तरी प्रतियोगिता का आयोजन करना है।

४. सांस्कृतिक कार्यक्रम – इस योजना के प्रभारी रामकृष्ण मिशन के सह-सचिव स्वामी बलभद्रानन्द जी हैं। इस योजना में अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय और स्थानीय स्तर पर सेमीनारों का आयोजन, सार्वभौमिक शान्ति बनाये रखने के लिये सर्वधर्मसमभाव तथा अन्य ज्वलन्त मुद्दों पर सेमीनारों का आयोजन, सर्वधर्म-सम्मेलनों का आयोजन, विश्व के मुख्य धर्मों की शिक्षाओं की प्रमुखतावाले ब्रोशरों का प्रकाशन किया जायेगा। क्लासिकल संगीत, आदिवासी और लोक संस्कृति संबंधित कार्यक्रमों का आयोजन किया जायेगा और राष्ट्रीय एकता के विचार, कला और शिल्पों की प्रदर्शनी लगायी जायेगी।

५. सर्वांगीण बाल-विकास योजनायें – इसके प्रभारी बेलूड़ मठ के स्वामी विश्वात्मानन्द जी हैं। इसके अन्तर्गत बच्चों को पौष्टिक आहार, चरित्र निर्माणकारी शिक्षा और विशेष चिकित्सा की सुविधायें प्रदान करने की योजना है।

६. गरीबी उन्मूलन योजना – इसके प्रभारी रामकृष्ण मिशन, सारदा पीठ, बेलूड़ मठ के सचिव स्वामी दिव्यानन्द जी हैं। इस योजना में गरीबों को सहायता कर उन्हें स्वावलम्बी बनाकर उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार करना है।

संचालित हो रही विशेष सेवा परियोजनायें

इसमें मुख्यतः चार योजनायें हैं, जो भारत सरकार द्वारा अनुदानित हैं और सम्पूर्ण भारत में बड़े जोर-शोर से संचालित हो रही हैं, जिसके संचालक स्वामी विश्वात्मानन्द जी हैं –

१. गदाधर प्रकल्प – यह योजना भारत के १५० क्षेत्रों

में बच्चों के सर्वांगीण – शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास के लिये सुविधायें प्रदान कर रही है। इसमें बच्चों के लिये पौष्टिक आहार, नाश्ता, दूध, स्कूल ड्रेस, जूता, स्कूल बैग, पठन सामग्री, खेल के विविध उपकरण, कम्प्यूटर-शिक्षा, नैतिक एवं आदर्श पुरुषों की जीवनियों को प्रोजेक्टर के द्वारा दिखाना, एकेडमिक और चरित्र-निर्माणकारी शिक्षा देना तथा शैक्षिक यात्रायें आदि के द्वारा उनके सर्वतोमुखी चरित्र-निर्माण करने का प्रयास किया जा रहा है।

२. विवेकानन्द स्वास्थ परिसेवा प्रकल्प – इस योजना के द्वारा भारत के १५० क्षेत्रों में कुपोषण के शिकार बच्चों को दवायें और उनके प्रतिरोध के लिये उनमें जागृति पैदा की जा रही है। साथ ही उनके सुस्वास्थ्य के लिये आवश्यक चिकित्सा सुविधा, दवायें एवं पौष्टिक आहार प्रदान किया जा रहा है।

३. सारदा पल्ली विकास प्रकल्प – इस योजना में विभिन्न राज्यों में १० केन्द्रों के द्वारा महिलाओं को शिक्षा एवं प्रशिक्षण के द्वारा उन्हें स्वावलम्बी और सशक्त बनाया जा रहा है।

४. अखण्डानन्द सेवा प्रकल्प – विभिन्न राज्यों में १० केन्द्रों के द्वारा निर्धन बस्तियों में सेवा जारी है।

ग्रुप बी.

ग्रुप बी. की सारी योजनायें रामकृष्ण मिशन स्वयं अपने भक्तों, शुभेच्छुओं के सहयोग से संचालित कर रहा है। इसमें कोई सरकारी अनुदान नहीं मिलता है। इस योजना के सेवा-क्षेत्र निम्नलिखित हैं –

१. उत्सव – इसके प्रभारी रामकृष्ण मठ, मुम्बई के अध्यक्ष स्वामी सर्वलोकानन्द जी हैं। इस योजना का कार्य है – २०१३ में स्वामी विवेकानन्द जी के पैत्रिक निवास भवन, कोलकाता में उद्घाटन समारोह का आयोजन करना, २०१४ के कार्यक्रमों को विशेष प्रदर्शित करते हुये एक वीसीडी निकालना, युनेस्को प्रधान कार्यालय पेरिस और फ्रांस में कार्यक्रम आयोजित करना, कुछ विश्वविद्यालयों में विवेकानन्द चेयर की स्थापना करना, विवेकानन्द पुरस्कार, मेडल, मोमेन्टो आदि आरम्भ करना, २०१४ में समापन समारोह नेताजी इन्डोर स्टेडियम, कोलकाता में करना।

२. प्रकाशन और प्रचार-प्रसार – इस योजना के प्रभारी अद्वैत आश्रम, मायावती के स्वामी बोधसारानन्द जी हैं। स्वामी विवेकानन्द पर विशेष प्रकाशन, स्मारिका का प्रकाशन, विद्यालयीय बच्चों के लिये शास्त्रीय संगीत प्रतियोगिता का आयोजन, विभिन्न भाषाओं में अखबारों में विशेष सपलमेन्टल निकालना। युवकों के लिये अँग्रेजी और हिन्दी में आदर्श शिक्षा की पुस्तकें रियाययी दर पर प्रकाशित करना।

३. सेमीनार और सभायें – इसके प्रभारी रामकृष्ण मिशन, दिल्ली के सचिव स्वामी शान्तात्मानन्द जी हैं। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यक्रम आयोजित हैं – २०१३ में कोलकाता, चेन्नई, दिल्ली और मुम्बई में धर्मसभा का आयोजन, रामकृष्ण संघ का २०१३ में संत-सम्मेलन, २०१३ में कनखल, हरिद्वार में विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के साधुओं का सम्मेलन, २०१३ में दक्षिण भारत में विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के संतों का सम्मेलन, हिन्दुओं के प्राचीन परम्परावादी और नवीन सम्प्रदायों के सर्वधर्मसभा का चार राज्यों में आयोजन कराना, पूर्वोक्त चार सर्वधर्म-सम्मेलनों के अतिरिक्त चार अन्य राज्यों में ऐसे धर्म-सम्मेलन आयोजित करना जिनमें परम्परागत हिन्दू धर्ममतों के साथ ही आधुनिक धार्मिक समूहों के बीच परिचर्चा सम्पन्न हो, 'स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भक्तों का योगदान' विषयक भक्त-सम्मेलन का आयोजन करना।

४. युवा सेवा योजना – इस योजना के प्रभारी रामकृष्ण मिशन, कड़प्पा के सचिव स्वामी आत्मविदानन्द जी हैं। इसमें निम्नलिखित कार्यक्रम आयोजित हैं – 'वेद में निहित भ्रातृत्व के विचार' विषय पर अखिल भारतीय युवा-सम्मेलन का आयोजन, राज्यस्तरीय युवा-सम्मेलन, स्वामी विवेकानन्द के चरणचिह्नों का अनुसरण करते हुये विवेकानन्द रथ, और जुलूस निकालना, विभिन्न क्षेत्रों में विवेक वाहिनी, ज्ञान वाहिनी, आदर्श शिक्षा का सचल प्रदर्शनी, 'स्वामी विवेकानन्द जी का दर्शन और सेवा' को समझने और व्यवहार में लाने के लिये युवकों की सभाओं का आयोजन करना।

५. भाव प्रचार – इस योजना के प्रभारी रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-प्रचार परिषद' के राष्ट्रीय अध्यक्ष स्वामी शिवमयानन्द जी हैं। इसमें अधोलिखित कार्यक्रमों का आयोजन है – भाव-प्रचार परिषद के संयोजकों की अखिल भारतीय सभा का अयोजन, आश्रमों के प्रतिनिधियों की दिन भर की राज्यस्तरीय सभा का आयोजन, भारतीय व्याख्यान के परिप्रेक्ष्य में स्वामी विवेकानन्द जी की विजय-यात्रा का पुन: प्रदर्शन करना, जिलास्तरीय दिनभर का युवा-परामर्श कार्यशाला का आयोजन, कुछ राज्यों में भाव-प्रचार परिषद की स्थापना करना।

चतुवर्षीय कार्यक्रम मनाने के बाद इन जन-कल्याणकारी योजनाओं को भविष्य में भी संचालित किया जा सके, इसके लिये भी रामकृष्ण मिशन प्रयत्नशील है।

ग्रुप बी. की योजनाओं हेतु भक्त, शुभेच्छु, अनुयायी और स्वामीजी के प्रति और स्वदेश एवं विश्व की मानवता के प्रति प्रेम रखनेवाले सभी लोग सादर अपना योगदान कर अपने जीवन के कुछ पलों को इस ऐतिहासिक क्षणों से संयुक्त होकर स्वयं को धन्य बना सकते हैं एवं स्वर्णिम इतिहास के पन्नों में अपने सुनाम को अंकित करा सकते हैं।

तीन वर्षों से यह कार्य बड़े ही उत्साह के साथ पूरे देश-विदेश में हो रहा है। सभी योजनायें कार्यान्वित एवं सफल हो

(शेष अगले पृष्ठ पर)

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

२३९. परपीड़ा सम नहिं अधमाई

भम्बाजी नामक एक ब्राह्मण, सन्त तुकाराम से द्वेष करता था। एक दिन उसने सुना कि सन्त बहिणबाई और उसके पति गंगाधर राव अपनी कपिला नामक गाय के साथ सन्त तुकाराम जी के घर मेहमान बनकर आए हैं, तो वह जाकर अतिथि गंगाधर राव से मिला। उसने तुकाराम को ढोंगी बताया और कहा कि यदि वह उन्हें छोड़ यहाँ के ब्राह्मणों से भगवत्-चर्चा करे, तभी उसके ज्ञान में वृद्धि होगी।

गंगाधर राव को तुकाराम जी की निन्दा सहन न हुई। उन्होंने कहा, "आपने मेरी बुराई की होती, तो मुझे बुरा न लगता, लेकिन आप एक सन्त पुरुष की निन्दा करके स्वयं को पाप के गर्त में डाल रहे हैं। भम्बाजी को यह बात सहन न हुई। अगले दिन जब तुकाराम जी के घर में कोई नहीं था, सब लोग मन्दिर गये हुए, तो भम्बाजी उनके घर गया और चुपचाप वहाँ से कपिला गाय को गोष्ठ से निकाल कर एक कमरे में ले जाकर बन्द कर दिया। बाद में गाय को गोष्ठ में न पाकर उसकी सर्वत्र खोज हुई, लेकिन न मिलने पर सबको बड़ा दुख हुआ। उस रात किसी ने भोजन नहीं किया।

रात को सपने में सन्त तुकाराम को खूँटे से बँधी कपिला गाय रोती हुई दिखाई दी। उन्होंने तत्काल भगवान विट्ठल से गाय को मुक्त कराने की प्रार्थना की। इधर सहसा भम्बाजी के घर में आग लग गयी। लोगों ने बालटियों में पानी भर-भर कर उसे बुझाने की चेष्टा की। पर आग इतनी भयंकर थी कि पानी का कोई असर नहीं हो रहा था। इतने में एक कमरे से कपिला की आवाज सुनाई दी। लोगों ने वहाँ जाकर कपिला के बन्धन खोल दिये। बाद में वह कमरा भी जलकर खाक हो गया। लोगों ने भम्बाजी को खूब खरी-खोटी सुनाई और कहा कि भगवान के भक्तों और मूक जीवों को सताने का जो फल होता है, वह तुमने देख लिया है। अब सन्त पुरुषों से ईर्ष्या-द्वेष बन्द करो।" भम्बाजी की आँखें खुल गईं। उसने तुकाराम और गंगाधर राव से क्षमा माँगी।

२४०. काय वचन मन पतिपद नेमा

पाण्डवों के वनवास के दौरान एक बार श्रीकृष्ण और सत्यभामा उनसे मिलने गये। सत्यभामा ने एकान्त में द्रौपदी से प्रश्न किया, "बहन, स्त्री को एक पति के अनुरूप अपना स्वभाव बदलना पड़ता है और उसे खुश रखने के लिए अपना दुख-दर्द और स्वाभिमान – सब कुछ भूलना पड़ता है, लेकिन तुम्हारे तो पाँच पति हैं। मैं यह सोचकर हैरान हूँ कि तुम पाँचों पतियों को कैसे प्रसन्न रख पाती हो? कहीं तुम किसी तंत्र-मंत्र का सहारा तो नहीं लेती !"

यह सुनकर द्रौपदी को हँसी आ गई। वह बोली, "बहन, तंत्र-मंत्र सर्प के विष के समान भयंकर तथा घातक होते हैं। कोई भी पतिव्रता स्त्री उनके प्रयोग की बात सोच भी नहीं सकती। स्त्री यदि अपना आचरण और व्यवहार ठीक रखे, तो कितने भी पति तथा परिवार के लोग क्यों न हों, वह सबको प्रसन्न रख सकती है। जहाँ तक मेरा प्रश्न है मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व मत्सर – इन षड्रिपुओं को अपने पास नहीं आने देती। अपने सारे कार्य कर्तव्य-भावना से करती हूँ। पतियों पर कभी संशय नहीं करती। अपने काम स्वयं करती हूँ। उनकी रुचि का सर्वदा ध्यान रखती हूँ। उनके और सासजी के प्रति कभी कठोर शब्दों का प्रयोग नहीं करती। उनकी निन्दा नहीं करती। उनके भोजन तथा शयन होने के बाद ही मैं भोजन तथा शयन करती हूँ। भोजन स्वयं पकाती हूँ और सेवक तथा अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था स्वयं करती हूँ। उनके साथ भी अच्छा व्यवहार करती हूँ, अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर पतियों पर निर्मल प्रीति रखती हूँ, उनकी इच्छानुसार चलती हूँ और उनकी आज्ञा का पालन करती हूँ। संक्षेप में – मैं तन, मन व वचन से पतियों की सेवा के सिवा कोई इच्छा नहीं रखती।"

सत्यभामा बोली, "बस बहन, मैं समझ गई, तुम सदाचरण और सद्व्यवहार के द्वारा गृहस्थ-धर्म का पालन करती हो।

❑ ❑ ❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

रही हैं। पाठक अपने निकटस्थ रामकृष्ण मिशन के केन्द्रों से जुड़कर अपने योग्य योजनाओं का लाभ उठा सकते हैं और रामकृष्ण मिशन से प्रकाशित होनेवाली विभिन्न पत्रिकाओं – अँग्रेजी में 'प्रबुद्ध भारत','वेदान्त केसरी', हिन्दी में 'विवेक ज्योति', मराठी में 'जीवन-विकास' तथा गुजराती में 'रामकृष्ण ज्योत' आदि के समाचार-पृष्ठों से जानकारी पा सकते हैं।

स्वामी विवेकानन्द जी बड़ी ही मार्मिक वाणी में प्राय: ही कहा करते थे – "इस संसार रूपी नरक-कुण्ड में यदि एक दिन के लिये भी एक व्यक्ति के मन में थोड़ा-सा सुख तथा शान्ति उत्पन्न किया जा सके, तो केवल उतना ही सत्य है।"

आइये, हम सब मिलकर स्वामी विवेकानन्द जी के इस स्वर्णिम युग में स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित एवं प्रशंसित मानवता की सेवा एवं आत्मकल्याण कर स्वामीजी के स्वप्नों को साकार कर अपने जीवन को धन्य बनावें ! ❑ ❑ ❑
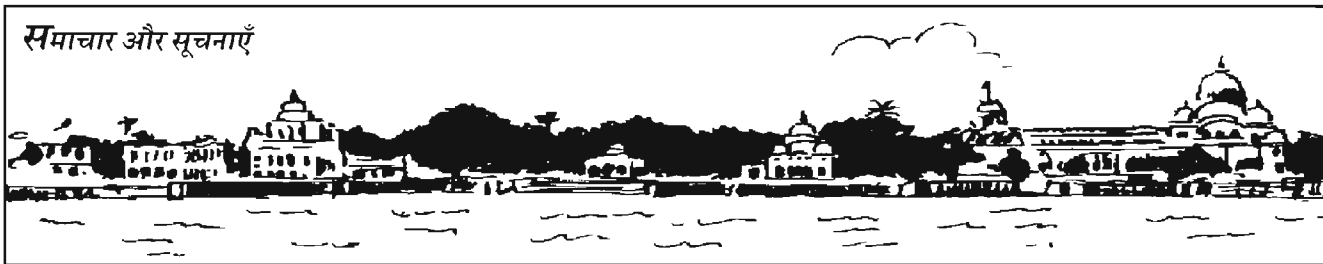
विवेकानन्दमय हुआ विवेकानन्द आश्रम, रायपुर

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम रायपुर के तत्त्वावधान में स्वामी विवेकानन्द जी की १५० वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में २८ नवम्बर २०१२ को मदर्स प्राइड ग्रुप आफ स्कूल्स के ५८० बच्चों छात्र-छात्राओं ने स्वामी विवेकानन्द के वेश (ड्रेस) में सजकर आश्रम-प्रांगण को सुशोभित किया। उस दिन सम्पूर्ण आश्रम परिसर विवेकानन्दमय हो गया था। आश्रम के सत्संग भवन में बच्चों ने वाद-विवाद, चित्रकला, रंगोली, भाषण और शास्त्रीय नृत्य प्रतियोगिता में भाग लिया। भाषण का विषय था – 'स्वामी विवेकानन्द हमारे जीवन का आधार। इसके अतिरिक्त बच्चों ने 'वंदे मातरम्', 'सत्यमेव जयते' और 'महिषासुर मर्दिनी' पर मनमोहक नृत्य प्रस्तुत किये। सुन्दर रंगोली और चित्रकला के माध्यम से बच्चों ने अपनी उत्कृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। हमारे जीवन के आधार स्वामी विवेकानन्द विषय पर स्वामी जी के विचारों द्वारा संसार में शान्ति का संदेश दिया।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने कहा कि बच्चे स्वामी विवेकानन्द जी की वेशभूषा के साथ-साथ उनकी सच्चरित्रता एवं सदगुणों को भी जीवन में अपनायें। कार्यक्रम में कुल ८०० बच्चे, ८८ शिक्षक-शिक्षिकायें और ४५ कर्मचारियों ने उपस्थित होकर इसे सफल करने में सहयोग किया। रायपुर के सुन्दर नगर, खमरिया और प्रोफेसर कॉलोनी स्कूल के छात्र उपस्थित थे। उस दिन पूरा आश्रम गैरिक वस्त्र में सजे विवेकानन्द से परिपूर्ण था। बच्चे प्रात: १०.३० बजे से शाम ३.३० बजे तक आश्रम में रहे। अन्त में सभी बच्चों को स्वामी विवेकानन्द की जीवनी प्रदान की गयी। प्रतियोगिता में विजेता छात्र-छात्राओं को स्वामी सत्यरूपानन्दजी के कर कमलों से पुरस्कार प्रदान किया गया। सबसे अन्त में बच्चों ने मंदिर के सम्मुख समूह-चित्र भी खिंचवाया। आश्रम-प्रांगण का परिदर्शन कर सभी बच्चे अध्यापक-अध्यापिकायें एवं कर्मचारी प्रसन्न थे।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, नई दिल्ली में

स्वामी विवेकानन्द जी की १५० वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में ११ और १२ सितम्बर, २०१२ को सर्वधर्म सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें विश्व की अनेक महान विभूतियों ने शान्ति और एकता का संदेश दिया। विश्व के विभिन्न भागों से आमन्त्रित अतिथियों एवं तिब्बती धर्मगुरू पूज्यपाद दलाई लामा जी की उपस्थिति में सर्वधर्म प्रार्थना से सभा आरम्भ हुई। पूज्यपाद दलाई लामा जी ने आश्रम में नेशनल कॉन्सील ऑफ साइंस म्युजियम के द्वारा डिजान्ड एवं डेभलप्ड स्वामी विवेकानन्द प्रदर्शनी का उद्घाटन भी किया। सारदा चिल्ड्रेन फोरम के बच्चों के गीत के बाद आश्रम के सचिव स्वामी शान्तानन्द जी ने स्वागत भाषण दिया।

इस द्विदिवसीय कार्यक्रम में रामकृष्ण संघ के उपाध्यक्ष स्वामी वागीशानन्द जी महाराज, रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामा सुहितानन्द जी महाराज, भारत के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम, वरीष्ठ नेता डॉ.कर्ण सिंह और विश्व के विभिन्न स्थानों से आये लगभग ३० वक्ताओं ने हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बुद्ध, जैन, यहूदी आदि धर्मों पर अपने विचार प्रकट किये। स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने स्वामी विवेकानन्द की ३-डी थियेटर और ३-डी रियलास्टीक स्टेरीओसकोपिक एनीमेशन फिल्म का उद्घाटन किया।

सूफी-संगीत, गुरवाणी संगीत, हिन्दू और पाश्चात्य संगीतों में निहित शान्ति एकता के संदेश को उन-उन संगीतज्ञों ने अपनी संगीत-कला के साथ प्रस्तुत किया। शान्ति और एकता के क्षेत्र में खेल के योगदान पर प्रसिद्ध खिलाड़ी श्रीकपिल देव श्रीकृष्णामाचारी और श्रीकान्त ने व्याख्यान दिये। स्वामी स्वात्मारामानन्द जी के संगीत से कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। विश्वशान्ति एवं एकता हेतु प्रचेष्टित इस सभा में लगभग १३०० लोगों ने भाग लिया। इसे दूरदर्शन और समाचार पत्रों ने प्रमुखता से प्रकाशित किया।

रामकृष्ण मठ, वृन्दावन में

श्रीमाँ के द्वारा वृन्दावन-भ्रमण की १२५वीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में १२ से १५ सितम्बर तक विभिन्न कार्यक्रम किये गये। माँ सारदा कुटीर जो काला बाबू कुंज के नाम से प्रचलित है का उद्घाटन किया गया। महासचिव स्वामी सुहितानन्द जी महाराज ने नवनिर्मित भवन और उस परिसर में ही माँ सारदा-प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। इस कार्यक्रम में लगभग १२०० भक्तों और १५० संतों ने भाग लिया।

टोरंटो (कनाडा) आश्रम ने ८ सितम्बर को सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किया, जिसमें ५०० लोगों ने भाग लिया।

❑ ❑ ❑